बाबा बलदेव वाणी

लेखक :
नन्दलाल शर्मा

समर्पण
देवादि देव
मेरे गुरुदेव !

हे साधना समर के महावीर !

आज मैं तुम्हारी वाणी के कतिपय सौरभमय विकसित पुष्प अर्पित कर, साधना का दिव्य भाल चर्चित कर रहा हूँ भक्ति चन्दन से । भक्ति और ज्ञान तुम्हारे दो नेत्र थे । दोनों का प्रकाश कलिग्रसित हृदय की कालिमा का परिच्छालन कर 'स्व' के ज्ञान में सहायक हुआ । मैंने तुम्हें पाया तुम्हारी लीला संवरण के अन्तिम युग के चतुर्थ अंश में ।

विश्व की कल्याण कामना के विशाल आयोजन में तुम्हारा सक्रिय सहयोग था । योग के सहयोग की भावना प्रदत्त की तुमने, तन्मय हो, हर्षोल्लास से । तुम्हारा पथ अन्य सन्तों से भिन्न था, यद्यपि तुमने भिन्नता के आवरण को उठा, दर्शन कराया उस अभिन्न को । तुम्हारे प्रति कृतज्ञता, श्रद्धाज्ञापन, कर्तव्य समझ
करूँ तो यह होगा मेरी भावुकता का स्पष्टीकरण । तुम्हारी उदारता, हृदय विशालता, पितृस्नेह, मातृममता का प्रत्यक्ष रूप पाया तुम्हारे कार्यों में ।

वाणी, भाव प्रकाश मे आज मौन है शब्दाभाव में । प्रशंसा करूँ, श्रद्धाञ्जलि अर्पित करूँ ? क्या-क्या करूँ ? बुद्धि कुण्ठित हो रही है । तुमने दिया और मैंने लिया, यह है तुम्हारा और मेरा चिर शाश्वत

सम्पर्क । तुम्हारी प्रसन्नता मेरी प्रसन्नता है । तुम्हारे गुणगान में मैं गोरवान्वित होता हूँ, तुम्हारी मधुर पुलक में मैं आनन्द पाता हूँ, किन्तु प्राप्त हुआ है तुम्हारी अनुकम्पा से । तुम्हारी अनुकम्पा स्मरण कर, आत्म-विस्मृत सा हो जाता हूँ । तुम्हारी वाटिका के सुमन ले, तुम्हारे पथ के पथिकों का सहयोगी बन, आनन्द वर्षण कर, उन्हें लक्ष्य बोध में सहायक सिद्ध हो सकूँगा तो जीवन की सार्थकता है ।

तब प्रदत्त भक्ति, ज्ञानरूपी सुमन अर्पित कर रहा हूँ मेरे आत्म-स्वरूप ? स्वीकार कर कृत्य-कृत्य करो हे गुरुदेव !

तुम्हारा ही

.....

वाणी

आज जन्माष्टमी का पुण्य दिवस है । प्रत्येक आर्य, भगवान् आनन्द कन्द, मुरली मनोहर, श्रीकृष्ण का आह्वान कर रहा है - जन्मोत्सव के रूप में । भगवान श्रीकृष्ण ने अत्याचारियों का अन्त कर पुनः सुख शान्ति स्थापित की । अत्याचारी का अत्याचार ही उसका घातक बन जाता है यह तो हमें ज्ञात हुआ है बीते हुए युगों की कहानियों से ।

श्री कृष्ण की वाणी का प्रकाश हम दो रूप में पाते हैं । भक्तों के लिये आपने बाल्यकाल में 'वेणु' बजाई जिसे सुन, गोपियाँ बेसुध हो जातीं, बाह्यज्ञान लोप हो जाता, समाज का बन्धन शिथिल हो जाता, श्रोता मुग्ध हो, वेणु की समीपता का इच्छुक हो जाता है । किन्तु उसी वाणी का प्रकाश जब 'गीता' के रूप में हुआ तो सम्पूर्ण विश्व मोहित हो गया ।

युद्ध स्थल में गीता ? ऐसा प्रश्न अनेक जिज्ञासु करते हैं । उनका प्रश्न कुछ अंशों मे उचित भी है । जहाँ युद्ध की सम्पूर्ण तैयारियाँ हो रही हों - वहाँ 'गीता' का गान अवश्य ही आश्चर्य में डाल देता है । प्रश्नकर्ता कुछ समय के लिये जिज्ञासा को भूल स्वयं ही वृत्ति को शान्त कर सोचे तो कदाचित उसे उत्तर भी प्राप्त हो, किन्तु वह सोचता कहाँ है ? वह तो केवल प्रश्न कर, कर्तव्य की इतिश्री समझ बैठता है । युद्ध की भीषण स्थिति ही गीता की उपादेयता का द्योतक है । बाहरी युद्ध तो सभी लोग देखते सुनते है और उसकी आलोचना कर, अल्प समय के लिये शान्त हो जाते हैंभीतरी युद्ध की ओर कब ध्यान देते हैं ? यह युद्ध उस महाभारत के युद्ध से भी भयंकर होता है ।

आज का भारीतय उस महाभारत के युद्ध को स्मरण कर कहता है, भाई ! कैसा भीषण था वह युद्ध, जिसने भारत की अनेक विद्याओं का अन्त किया । भाई-भाई का युद्ध भारत को गारत कर चुका है । हमारी संस्कृति का अन्त हुआ, विज्ञान की पराकाष्ठा का अन्त हुआ उस महासमर में । हम अब तक पूर्वावस्था में न आ सके आदि अनेक बातें कहते हुए लोग नज़र आते हैं । किन्तु प्रत्येक क्षण के युद्ध के लिये वह कब ध्यान देता है ?

वास्तव में युद्ध के समय ही 'गीता' या वाणी की आवश्यकता होती है । वाणी ही मुर्छित चेतना को पुनः जागृत कर, मानव को महामानव बनाती है । जिसने सुना, कार्य रूप में परिणत किया वही महामानव हो जाता है । यह है विशेषता इस वाणी की । वाणी चाहे वह किसी महापुरूष द्वारा उच्चरित हुई हो अथवा अवतारी द्वारा, उसने सदा जीव का कल्याण किया है । भगवान श्री कृष्ण की वाणी की व्याख्या तो अनेक महासिद्ध, साधक, पंडितों ने की तथा उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा भी हुई । किन्तु हम तो एक ऐसे सन्त की वाणी की व्याख्या करने का प्रयास कर रहे हैं जिन्हे उस प्रान्त के लोग भी न जान पाये । वे न चाहते थे प्रशंसा, न प्रसिद्धि, न शिष्य सम्प्रदाय तब भला लोग कैसे उन्हें सुन पाते तथा लाभ उठा पाते ?

वाणी का प्रारम्भ जीव मात्र के सृजन के साथ है । भाषा तत्वज्ञों के अनेक विचार हैं तथा अपने विचारों की पुष्टि में उन्होंने अनेक युक्तियाँ भी दी है । हमारा मन्तव्य उन ज्ञानियों की युक्ति का खंडन-मंडन नहीं । हम वाणी शब्द का प्रयोग उस अर्थ में न कर, उपदेश के लिये व्यवहृत करना चाहते हैं । यों तो सभी युगों के आचार्यों ने साधु-सन्यासियों ने, पंडित

वैरागियों ने, प्रथम अपनी शिष्य मंडली के कल्याणार्थ उपदेश दिये, किन्तु वे उपदेश उन्हीं तक सीमित न रहे । दिये हुए उपदेश उन कन्दराओं, मठों, आश्रमों, युद्धस्थलों से प्रसारित तथा प्रचारित हुए ।

संसार के प्राणियों का सदा एक दृष्टिकोण न रहा, अतः षट दर्शन-शास्त्रों की रचना हुई । उपनिषद्, वेदान्त के रहस्य रखे गये तथा उन रहस्यों का उद्‌घाटन भी हुआ । मानव ने कल्पना को साकार रूप दिया इस वाणी की ही कृपा से । हम तो मूक प्राणी ही थे, जब तक हम उन महापुरुषों की वाणी से अवगत न थे । वाणी के प्रवर्त्तकों की विशेषता हुआ करती है, मौलिक सिद्धान्तों से उनका सम्बन्ध हुआ करता है वे अपने विचार वाणी के द्वारा व्यक्त कर सिद्धान्तों की पुष्टि करते हैं और इस प्रकार वे उस समय की समस्याओं को हल कर, जन कल्याण किया करते हैं । इन महानुभावों का प्रादुर्भाव, लोकहित होता है, इसे लिखना पिष्टपेषण सा प्रतीत होता है ।

वाणी कभी सामयिक होती है और कभी-कभी शाश्वत भी । सामयिक वाणी व्यवहार के उद्देश्य की पूर्ति के लिये कही जाती है किन्तु अमरवाणी चिरकाल के लिये अपना विशेष स्थान रखती है । वाणी संकेत करती है नवीनता की ओर, विचारों की क्रांति की ओर, मन की शांति की ओर, जग की भ्रांति की ओर ।

किन्तु वाणी अपनी वाणी द्वारा कुछ नहीं करती । वहा तो बन जाती है किसी और की और दिलाती है उसे प्रशंसा, सम्मान, श्रद्धा आदि भेंट में ।

वाणी की आवश्यकता रही है प्रारम्भिक काल से । इसीलिये उस युग के ऋषि मुनियों ने समय पर उसका प्रयोग किया है तथा आशातीत लाभ उठाया है । गौतम यदि सिद्धार्थ या शाक्य मुनि रहते तो संसार उनसे लाभ न उठा पाता किन्तु गौतम को जब बोध हुआ तो वे बुद्ध हो गये और संसार को नया प्रकाश दिया अपनी वाणी से अपने उपदेशों से । वैदिक काल में जीव के प्रति शुभेच्छा रही किन्तु समय पाकर दया, क्षमा आदि सद्गुण मानव भूल बैठा और यज्ञ के नाम पर अनेक जीवों की हत्या की । उनकी हत्याओं ने गौतम के कोमल हृदय को व्यथित किया और मानवीय दुर्बलताओं का अन्त किया उस महर्षि ने जीव-रक्षा के रूप में । त्याग, तपस्या की महिमा संसार के लोग जान पाये तथा उस हिंसक युग से मुक्त हुए जिसने अनेक जीवों का अन्त करवाया था धर्म और कर्तव्य के नाम पर ।

हमारा क्या कर्तव्य है ? यह प्रश्न जब उपस्थित होता है तो मनुष्य कुछ समय के लिये विचारशील बन जाता है और बुद्धि की कृपा से अपने कर्मों की ओर देखता है । अन्तरात्मा की पुकार सुनता है । अब तक वह बदहोश सा हो रहा था, होश में आता है । क्षण भर अन्य कर्मों से विश्राम ले, अन्तर अन्वेक्षण करता है और फिर अपने बाहर के कार्यों को देखता है । दोनों का अन्तर समक्ष आता है और जान पाता है ''भीतर बाहर एक समान'' की अवस्था नहीं है । मन के चक्कर से, प्रताड़ना से, श्रद्धालु जीव घबड़ा उठता है तो वाणी के प्रवर्त्तकों की ओर जाता है वहाँ उसे शान्ति उपलब्ध होती है । तो निष्कर्ष यह है कि वाणी की आवश्यकता है और आवश्यकता है ऐसी अवस्था में जब उसे कहीं भी शांति नजर नहीं आती ।

प्रश्न होता है ''हमारा कर्तव्य क्या है'' इसे लोग भूल बैठते हैं या भुला दिया जाता है । शायद उत्तर यह हो कि कार्य कलाप उसे सोचने का अवसर ही नहीं देते कि वह सोच पाये कि कर्तव्य क्या है ? वह तो उस यंत्र की तरह हो जाता है जिसका सदा गतिशील ही होना उसकी सजीवता का लक्षण है । एक कवि ने तो यहाँ तक कह डाला ''जीवन एक अनन्त स्त्रोत है, गति ही है उसका विश्राम'' । ठीक है स्त्रोत में बहे जाओ किन्तु यह स्त्रोत किस ओर जा रहा है इसे भी लक्ष करोगे या अनवरत इस स्त्रोत के प्रवाह के साथी ही बन रहोगे ? केवल बहते जाना ही जीवन या दूसरे शब्दों में 'हमारा कर्तव्य है' तो बात जुदा है किन्तु सृष्टिकर्ता ने तुम्हें बुद्धि दी है, अन्य जीवों से अधिक तुम्हें प्यार किया है और सृष्टि तथा अपना रहस्य समझने के लिये तुम्हें यंत्र दिया, जिससे यदि तुम काम लो तो तुम्हारा बहुत कुछ मंगल हो सकता है, उलझने सुलझ सकती है । अब यह तुम्हारा काम है कि तुम उससे लाभ उठाओ ।

आहार, निद्रा, भय और मैथुन का जहाँ तक सम्बन्ध है वहाँ तक तुम अन्य जीवों से विशिष्ट नहीं । बुद्धि ही ने तुम्हारी छाप विश्व पर लगा दी है । तुमने इसकी सहायता से क्या-क्या नहीं किया । जीव से तुम शिव बने सृष्टि की वस्तुओं का उपभोग किया - प्रकृति पर आंशिक विजय पाई, आदि अनेक कार्य किये किन्तु ये सब प्राप्त हुये तुम्हें 'उसी वाणी' के द्वारा । वाणी की महिमा हम वाणी द्वारा नहीं कह सकते, कृतज्ञता ज्ञापन कर सकते हैं हृदय द्वारा । हृदय जब उसे अनुभव करता है तो अन्य बातों को भूल बैठता है । मनुष्य स्वार्थी है प्रकृति से, ऐसा अनेक विद्वानों का कथन है इसमें सत्यांश भी है । स्वार्थी शब्द को सुन उसे रुढ़ि की तरह व्यवहार में न लाना चाहिये । हमें सोचना होगा कि जर्जरित शरीर, अशांत मन, भ्रमित

बुद्धि तथा अतृप्त आत्मा को क्या दें ? वहाँ हमें स्मरण हो आता है एक विद्वान का कथन, जो हमें कहते हैं - शरीर को दूध, व्यायाम, मन को संगीत एवं उपासना, बुद्धि को सद्ग्रन्थ अथच धर्माचरण तथा आत्मा के लिये तो श्रद्धा और विश्वास ही उचित भोजन है । इन परमावश्यक कार्यों को न करें और फिर भी हम जिज्ञासु बन पूछें 'हमारा कर्तव्य क्या है', तो यह होगी हमारी किंकर्तव्य विमूढ़ता ।

हमारे जीवन के लिये आवश्यक है धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष । प्रश्न हो सकता है कि धर्म का सर्वप्रथम स्थान क्यों ? तथा मोक्ष का अन्तिम । अर्थ और काम तो मध्यावस्था में रखे गये । बात यह है कि सबको धारण करने वाला ही धर्म है । यदि धर्म का आश्रय न लिया जाये तो कोई कर्म ही नहीं बनता । हम सुना करते हैं - 'यह बुद्धि का धर्म है, यह मन का धर्म है, यह शरीर का धर्म है' । तो स्पष्ट हुआ कि धर्म के बिना शरीर मन और बुद्धि पंगु है । इसके अतिरिक्त भी यह सुना जाता है, मानव धर्म, आपद्धर्म आदि । धर्म का जीवन से अति घनिष्ठ सम्बन्ध है । किन्तु आज का प्राणी धर्म का नाम सुनते ही नाक भौं सिकोड़ने लगता है । अनेक स्थलों पर तो वह विद्रोह कर बैठता है और धर्म की धार्मिकता को ही मिटा डालना चाहता है । युग धर्म की दुहाई देये हुये भी लोग नजर आते हैं । किन्तु धर्म का नाश करने पर प्रस्तुत प्राणियों की भूल है कि वे धर्म को अपना शत्रु समझ बैठते हैं । कुछ लोग अति धार्मिकता का दम भरते हैं । धर्म की भली-बुरी प्रशंसा या निन्दा, उसका मार्ग अवरोध नहीं कर सकती । कुछ लोग यह भी कहते हैं कि 'धर्मो रक्षति रक्षकः' अर्थात् धर्म रक्षक की रक्षा करता है । यह तो सैद्धान्तिक बात हुई, किन्तु यहीं इस बात का अन्त नहीं हो जाता । यह धर्म प्रेरणा देता है अर्थ और काम के लिये । आप कह

उठेंगे, हम तो धर्म के नाम से ही घबड़ाते थे अब यह अर्थ और काम का क्यों उल्लेख किया जा रहा है ? वहाँ हमें कहने के लिये बाध्य होना पड़ता है कि जिस धर्म की आप निन्दा करते हैं वह केवल अर्थाभाव के कारण करते हैं ।

आज का जमाना अर्थ का दास है, धर्म का नहीं । इसीलिये तो सर्वत्र अर्थ के लिये महासमरों की सृष्टि हुई और होगी । कारण स्पष्ट है कि जहाँ आधार था धर्म उसे तो लोगों ने धर दबाया, आर्थिक दृष्टि के कारण । फिर तो अर्थ ही अर्थ रहेगा । किन्तु जो अर्थ धर्म की नींव पर न खड़ा हुआ, वह अर्थ नहीं कहा जा सकता, वह तो अनर्थ है जिसने संत्रस्त कर रखा है सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को । यदि अर्थ, धर्म को निगल जाये तथा काम, मोक्ष को तो फिर मानव की रक्षा कैसे होगी ? आज का प्राणी यह भूल बैठता है कि धर्म और मोक्ष उपेक्षणीय नहीं है । यदि अर्थ और काम को प्रधानता देता रहा तो वह क्षण के लिये भी शांत न हो सकेगा तथा भाग्यशाली जीव अपने को अभागा कहने में तनिक भी संकुचित न होगा । कहावत भी है, जहाँ प्रारम्भ में ही भ्रांति और भूल है, वहाँ 'आगे कौन हवाल' ।

अर्थ का अर्थ भी लोग समझते तो कुछ काम होता किन्तु वहाँ तो अर्थ का सहज अर्थ है 'टका' 'नगदनारायण' । अर्थ की आवश्यकता किस युग में न थी । थी तो, किन्तु इस मात्रा में न थी । जीवन निर्वाह के लिये अर्थ की आवश्कता थी किन्तु यहाँ तो होड़ लगी है उसे संग्रह करने की, उसी को सर्वेसर्वा समझने की । अर्थ का जीवन से जहाँ तक उचित सम्बन्ध है, वहीं तक ठीक है । उसी को सर्वस्व समझना तो अपने जीवन को

अभिशाप बनाना है । कौन ऐसा अभागा प्राणी होगा, जो मानव तन को यों ही बिता, हा अर्थ, हा अर्थ ही चित्कार करता हुआ घूमेगा ? धर्म के नाम से घृणा न की जाय तथा अर्थ को ही सब कुछ न समझा जाय तो मनुष्य काम या आराम पा सकता है ।

अर्थ का काम से सम्बन्ध है, यह तो लोग खूब जानते हैं किन्तु यह क्यों नहीं समझते कि इनकी भित्ति है धर्म की । यदि इसकी उपेक्षा की गई जैसी कि अभी की जा रही है तो परिणाम भयंकर होगा । अर्थ की माला जिस प्रेम से आप जप रहे हैं, उसका कोई भी अंश यदि धर्म के लिये दिया जाय तो शुद्ध अर्थ की भी प्राप्ति हो और जीवन भी सुखमय हो । लोग कहते भी हैं ''अर्थ अनर्थ की जड़ है'' किन्तु यह तो कथन मात्र है, इसे कब लोग ध्यान में लाते हैं ?

जमाना ऐसा है कि किसी को भूल से भी कुछ उपदेश या हित की बात कही जाय तो वह सिर पर सवार हो जाता है, और कहता है - 'महाशय क्यों अपना समय व्यर्थ नष्ट कर रहे हैं, आप ही लोगों ने तो धर्म-धर्म चिल्लाकर हमारी यह दुरावस्था की' । किन्तु धर्म का मर्म क्या इतना सरल है ? लोग तो आज नगद धर्म को चाहते हैं, 'इस हाथ कर उस हाथ ले' की कहावत को चरितार्थ करना चाहते हैं । धर्म ने किसी का नाश नहीं किया है । मनुष्य ने अपनी स्वार्थ सिद्धि के लिये धर्म का उल्टा सीधा अर्थ करना शुरू किया कि धर्म का रूप ही बिगाड़ दिया । यदि हम अपने स्वार्थ के लिये किसी श्रेष्ठ वस्तु को ऐसे स्थान पर रखें जहाँ रखना उस वस्तु विशेष का अपमान करना है तो यह हमारी भूल होगी, उस वस्तु विशेष की उपादेयता में कभी कमी न आयेगी । यदि लोकाचार को ही धर्म

समझ लिया जाय तथा पैसे को ही अर्थ समझ लिया जाय तो अन्याय होगा धर्म के प्रति । ये तो सुन्दर साधन है जो आपके जीवन को दिव्य बना सकते हैं, यदि इनकी कद्र करें । इन्हें अच्छे रूप में काम में भी न लायें तथा इनकी बुराई भी करें तो यह हमारे लिये विश्वासघात होगा ।

हमारी मानसिक दुर्बलताएँ जब हमारा दामन थाम लेती है तो हम चलते हैं किसी और की ओर । यही हमारे लिये घातक होता है । कहाँ के भाव आते है और कहाँ चले जाते हैं यह प्रश्न आज भी पूछा जाता है और इसका उत्तर पाकर भी मनुष्य सन्तुष्ट नहीं होता । उसकी जिज्ञासा बनी ही रहती है । उसके लिये धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार शब्द बने रहते हैं जिनका अर्थ लोग अपनी इच्छानुसार लगाते हैं । इन चारों को समझने के लिये हमें साधुओं का संग, संतों की सेवा, देवों की पूजा, भगवद्ध्यान करना आवश्यक है ।

आज के युग का मानव, किसी दूसरे के विचारों को समझने के लिये तैयार नहीं । वह तो चाहता है कि लोग उसके विचारों का आदर करें, उसे श्रद्धा की दृष्टि से देखें, उसके श्रेष्ठत्व को अपनायें । किन्तु ऐसा समझना क्या ठीक है ? जब हम दूसरों की बातें सुनने को प्रस्तुत नहीं तो फिर उनसे उम्मीद क्यों करें कि वे ही हमारी बातें सुनें फिर प्रश्न यह भी है कि क्या हमारे कथन और आचरण सम है ? यदि नहीं तो मंगल हमारा इसी में है कि हम अपने को समझने की अधिक चेष्टा करें । कहावत भी है ''वैद्य महाशय, प्रथम अपने रोग का निदान कीजिये''। ठीक भी है अन्तर दृष्टिपात करना ही आत्म हितेच्छु के लिये सर्वोत्तम कार्य है । हम अपने को धोखा न दें किन्तु मनुष्य जितना अपने को प्रवंचकता का पाठ पढ़ाता है

उतना समय स्वाध्याय या स्वचिन्तन में बिताये तो आनन्द सागर में गोता लगाने का अधिकारी हो सकता है ।

सांसारिक लोगों ने संसार को दो भागों में विभक्त कर रखा है या दो रूपों में देखा है, उनके नाम हैं पाप और पुण्य । पाप और पुण्य की परिभाषा इतनी सरल नहीं जितनी की साधारण लोग करते हैं । तुलसीदासजी ने भी कहा है - ''परहित सरिस धर्म नहीं भाई, पर पीड़ा सम नहीं अधमाई'' । ठीक है धर्म और अधर्म या पुण्य और पाप की सरल परिभाषा यही हो सकती है किन्तु कौन सा कार्य हमारे लिये पुण्यमय है तथा कौन सा पाप पूर्ण है वहाँ फिर समस्या उपस्थित होती है। तो फिर इस पाप पुण्य की मीमांसा से कैसे छुटकारा पाया जाय ? यहाँ हम कुछ मौलिक सिद्धान्त बना लें तो हमें अधिक सन्तोष होगा । यों तो जीव मात्र से प्रत्येक क्षण, ज्ञात-अज्ञात में अनेक पाप-पुण्य बनते हैं, जिनसे रक्षा पाना अति दुष्कर है । शरीर के लिये श्वास अत्यावश्यक है । इस श्वास के स्पर्श मात्र से अनेक किटाणु नष्ट हो जाते हैं, इसीलिये अमुक सम्प्रदाय के लोग प्रार्थना -पूजा करने के समय वस्त्र से मुख बन्द कर लेते हैं, जिसमें भावना यही है कि उनके द्वारा अणुमात्र को भी कष्ट न हो । हम उनकी भावना के लिये उनका सादर अभिवादन करते है किन्तु ऐसा होता कहाँ है । किटाणु तो मरते ही हैं । कभी-कभी हमारा किया हुआ पाप भी किसी के लिये पुण्य होता है । अभाव ग्रसित व्यक्ति को यदि व्यक्ति अर्थ से सहायता करता है तो पुण्य ही है । अर्थ कैसे प्राप्त हुआ वहाँ अवश्य पाप-पुण्य का प्रश्न आता है । रत्नाकर, डाकू रत्नाकर पथिकों की हत्या कर अपने बाल-बच्चों और माता-पिता की रक्षा करता था उसे पुण्य कार्य समझता था । जब नारद ने उसे समझाया तो उसकी आँखे खुलीं और पाप-पुण्य के रहस्य को

समझा । इसलिये यह कहना कठिन है कि अमुक कार्य तो केवल पुण्यमय ही है, उसमें पाप के लिये स्थान नहीं । ऐसा भी देखा जाता है कि मनुष्य, पाप-पुण्य के लिये अपने को जिम्मेदार ठहराता है और यदि वह न ठहराये तो न्यायालय उसे समझा देता है । जो कुछ भी हो, पाप और पुण्य का भाव सदा उसे घेरे रहता है । एक स्थान पर एक कवियित्री ने कहा है ''पाप और पुण्य भिन्न दो वस्तु लगे इस मानव तन के साथ'' ।

यदि ये मानव तन के साथ ही रहने वाले हैं तो फिर इनका आदर और अनादर का भाव क्यों ? क्योंकि ये मानव तन के साथ ही उत्पन्न होते हैं तथा स्थूल शरीर छोड़ने पर भी सूक्ष्म शरीर के साथ रहते हैं तथा उन्हीं के अनुसार दूसरा कलेवर लेने को बाध्य करते हैं ।

पुनर्जन्म का सिद्धान्त तो हमें यही बतलाता है कि जीव के शुभ-अशुभ कार्य अथवा पाप-पुण्य जीव को नवीन कलेवर दिलाने के प्रधान कारण है । कुछ धर्मों में पुनर्जन्म के लिये स्थान नहीं, तो न सही, किन्तु यह तो वे लोग स्वीकार करते हैं कि जीव को निज कर्मों द्वारा ही सम्मानित या अपमानित होना पड़ता है । तो पाप और पुण्य है, और है उनके परिणाम । किन्तु वाणी का सम्पर्क पाप और पुण्य से घनिष्ट है, इसे अमान्य नहीं किया जा सकता । वह वस्तु जो जीव के कल्याण में बाधक है, उसी को पाप मान लिया जाये तो उचित होगा तथा कल्याण का सहायक पुण्य है इसे भी स्वीकार किया जाये तो यह भी ठीक है ।

पाप और पुण्य के साथ प्रारब्ध का चक्कर प्रस्तुत हो जाता है, जिसे देख लोग घबड़ा उठते हैं तथा उसकी निष्कृति के लिये चेष्टा करते

हैं । किन्तु कर कहाँ पाते हैं ? प्रारब्ध ने जीव को खूब ही बन्धन ग्रसित कर रखा है । संचित कर्म से कैसे छुटकारा पाया जाय और भविष्य में वे फिर अपना सिर न उठायें, इसके लिये क्या किया जाय ? आदि प्रश्न मनुष्य के मस्तिष्क को चक्कर में डालते रहते हैं । एक सिद्ध का कथन था, 'भाई प्रारब्ध के चक्कर की तुमने भली बात कही ? जो भोग चुके वह तो बीत चला और आने वाला है वह भविष्य के गर्भ में है और वर्तमान में जो हो रहा है उसे देख ही रहे हो, फिर चिन्ता का क्या कारण हो सकता है ? बीता उसे बिसारो । भविष्य स्वयं अपनी चिन्ता करेगा । तुम केवल वर्तमान का ही खेल देखो'' ।

यह सुनकर भी मानव शान्त कहाँ होता है ? उसके लिये कर्म, अकर्म, विकर्म की कहानी ज्यों की त्यों बनी रहती है । वह गीताकार की बातें सुन 'कर्म की गति गहन है' कह उठता है । कर्म का अन्त कैसे हो उसके लिये केवल व्याकुलता से काम न बन पड़ेगा, उसके लिये चाहिये आस्तिक बुद्धि, शुद्ध मनन और चिन्तन ।

तो क्या मनन, चिन्तन, बुद्धि से कर्म का अन्त हो सकेगा ? कर्म का अन्त कभी होता होगा कि नहीं इसमें भी सन्देह है । सृष्टि के प्रारम्भ के साथ अनेक जीव-जन्तु उस सृष्टि चक्र परिचालक के साथ थे तथा अनेक प्रलय, महाप्रलय के पश्चात् भी रहेंगे । किन्तु रहेंगे किस रूप में यह नहीं कहा जा सकता । कर्म तो प्रत्येक क्षण होते ही रहते हैं । होते रहें, हमें तो अपने कर्मों का अभीष्ट है । तो भाई बात यह है कि जब तक कर्म, अकर्म की पोटली अपने सिर पर रखकर घूम रहे हो तब तक देखते जाओ इनके खेल । एक चलचित्र में एक समय एक ही दृश्य दिखलाई देता है, किन्तु

यह कर्मों का चलचित्र बड़ा ही विचित्र है, इतनी तीव्र गति के साथ गतिशील है यह तथा ऐसे-ऐसे अनोखे दृश्य हैं कि सम्पूर्ण विश्व को यदि पर्दा बना दिया जाय तब भी कर्म का एक ही रूप देखने को मिले, इसमें भी सन्देह है । अर्जुन के अतिरिक्त भगवान श्री कृष्ण के विराट रूप का दर्शन इन चर्म-चक्षु द्वारा कोई हुआ नहीं । नहीं - नहीं, वहाँ भी भगवान ने उसे दिव्य चक्षु ही दिये । तो ऐसे ही कर्मों का भी विराट रूप है । उसका दर्शन कैसे हो ? इस प्रश्न का उत्तर तुम स्वयं ही दो । जिन्हें तुम प्रत्यक्ष कर्म कहते हो अर्थात् जो कर्म तुम्हारे सम्मुख हो रहे हैं वे भी तुम्हारे पूर्व के किये हुये ही कर्म हैं । मृत्यु अर्थात् स्थूल शरीर का सूक्ष्म शरीर से पृथक होना ही मनुष्य के लिये आश्चर्य बना हुआ है । इसे (मृत्यु को) एक पट परिवर्तन ही मान लो तो बहुत सी बातें सरल हो जाती हैं ।

कर्म का अन्त कैसे हो ? यह प्रश्न अब भी ज्यों का त्यों है । यों तो एक सिद्ध की बातें भी कही गईं और कुछ बातें स्पष्ट भी हुई किन्तु, यह 'किन्तु' अब भी प्रश्न और उत्तर के लिये व्यग्र हो रहा है । 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन' यदि यह बात कही जाय तो कह उठोगे कि यह असम्बद्ध वार्ता क्यों ? नहीं भाई, बेतुकी बातें नहीं, यह तो वर्तमान काल की बातें हो रही हैं । यों तो काल का विभाग किसने किया ? मनुष्य अपनी सुविधानुसार काल के विभाजन करता है, फिर भी मन के सन्तोष के लिये, विचारों की पुष्टि के लिये, आत्मा के आनन्द के लिये मनुष्य अनेक सिद्धान्त, आदर्श बनाता आया है और बनाता रहेगा । इन आदर्शों का वादों का कहीं अन्त नहीं । एक महापुरुष ने अपने जीवनकाल में कुछ सत्यांश की अनुभूति की और उसे सिद्धान्त का रूप देकर संसार के सम्मुख रखा । विचारों की भूखी दुनिया ने दामन फैलाया, इसे तो कुछ

न कुछ चाहिये । लोग उन बातों (सिद्धान्तों) के गीत गाने लगे । यही नहीं, यदि विरोध, तीव्र विरोध हुआ तो विरोधियों को यमपुरी का द्वार दिखलाया - ऐसी बातें तो हम जान पाये विश्व के इतिहास से । इस इतिहास पर सरसरी नजर डाली जाय तो इन बातों की पुष्टि होगी । धर्म ? और उसका प्रचार हो शक्ति के बल पर, तलवार के बल पर, यह तो पशुता है । धर्म का प्रचार हो प्रेम के बल पर, सद्भावना की नींव पर । आप अपने विचार संसार के सम्मुख रखिये, जिन्हें पसन्द होंगे लोग स्वयं ही ग्रहण करेंगे । उसके लिये यह पशुबल ? ये हीनता के भाव क्यों ? भोले लोगों की अज्ञता से लाभ उठाने का यह तरीका सुन्दर नहीं । इन्हें तो ऐसी औषधि दो जिसे पीकर मस्त हो जाँय, शरीर की जलन, मन की अशान्ति, आत्मा-परमात्मा का वियोग दूर हो सके और फिर एक रूप, एक रस, एक ही के आनन्द में विभोर होकर भूल उठें कि कर्म का अन्त कैसे हो ।

मन और भी कुछ कहना चाहता है । हमारा कर्तव्य क्या है ? कर्मों का अन्त कैसे हो ? ये दो बातें है विरोधात्मक । हम अपना कर्तव्य भी निर्धारित करना चाहें और कर्मों का अन्त भी करना चाहें तो कुछ विचित्र सा प्रतीत होता है । विचित्र हो या सचित्र किन्तु है कुछ ऐसा ही । ये दो धारयें - दो विचार धारायें - दो विपरीत विचार धारायें बहती आ रही है अनादि काल से और इनका कार्यावशेष कब होगा यह कैसे कहा जाय ? एक बात तो यह है कि कर्मों का अन्त कर्मों के द्वारा ही होगा । अन्य कोई पथ दिखलाई नहीं दे रहा है ।

गीताकार का कथन है कि एक क्षण भी कर्मरहित नहीं बीतता, कुछ न कुछ होता ही रहता है । सोने में, जागने में, हँसने में, रोने में, बात में, मौन में कर्म तो बनते ही रहते हैं । फिर अन्त का प्रश्न कैसा ?

दूसरा कथन यह है कि वे कर्म अपने ही क्यों माने जाँय - जिसने हमें प्रेरणा दी उसी को न अर्पण कर दें और कह दें कि आपकी वस्तु आपकी ही रहेगी, हम इसे अपनी समझ क्यों बन्धन ग्रसित हों ? किन्तु वहाँ ''मैं'' ''अहम्'' उपस्थित होता है और कहता है कि ये कैसी बातें कर रहे हो ? मैं कुछ भी नहीं ? मेरी हस्ती कुछ भी नहीं ? वहाँ हमें फिर विचारने के लिये बाध्य होना पड़ेगा और यथार्थवाद को स्वीकार करना होगा कि संसार में आज ''मैं'' ''मैं'' की पुकार है । इस ''मैं'' की पूजा के लिये संसार के प्राणी व्याकुल हो रहे हैं । मैं ही ठीक सोचता हूँ, मेरा ही धर्म श्रेष्ठ है, मेरे ही विचार, विचार हैं - और लोग क्या समझे ? क्या जानें ? आदि भाव देखने के लिये मिलते हैं ।

''मैं'' की पूजा को भी हम बुरा नहीं कहते, किन्तु हमारा दृष्टिकोण कुछ भिन्न है । ''मैं'' को केवल शरीर ही क्यों समझा जाय ? उस ''मैं'' से संश्लिष्ट आत्मा का बोध क्यों न किया जाय ? यदि शरीर के स्थान पर आत्मा को स्थान दिया जाय तो बहुत कुछ समस्या की पूर्ति हो सकती है ।

''मैं'' को कैसे आत्मा के रूप में समझा जाय ? यह प्रश्न अवश्य ही उपस्थित होता है । शरीर और आत्मा या ''मैं'' और आत्मा का सम्बन्ध क्या है ? कैसे हुआ ? क्यों हुआ ? ये भी विचारणीय प्रश्न हैं ।

शरीर को तो सभी देख रहे हैं । आँखों ने एक आकार देखा, बुद्धि ने निर्णय किया औा काम बना किन्तु आत्मा को कैसे देखा जाय ? आँखें उसे देख नहीं सकती । फिर व्यवसात्मिकता बुद्धि से हम कहाँ तक अग्रसर हो पाते हैं ?

जिसका कोई रूप न हो उसे भी हम यदि पार्थिव वस्तुओं की तरह देखने की इच्छा रखें तो यह हमारी अज्ञानता ही है । रूप और नाम ने ही संसार को संसारत्व दिया । यदि नाम न हो, रूप न हो तो फिर कैसे पृथकत्व का बोध हो ? कैसे माया का बोध हो ?माया जो न हो और फिर भी उसका रूप देखने में आये तथा नाम उसके रखें जायें यही तो विशेषता है । भ्रम का स्थान तो बाद में आता है, प्रथम माया का ही राज्य दीख पड़ता है ।

शरीर - आत्मा - परमात्मा यह एक त्रिगुट है तथा माया - संसार - कर्मबन्धन, यह दूसरा । सभी सजीव और निर्जीव आत्मा से ओत-प्रोत है । वायु को हम कहाँ देख पाते हैं, किन्तु स्पर्शमात्र हमें बतलाता है कि वायु है, वैसे ही आत्मा का साम्राज्य सर्वत्र है । तो वायु की तरह हम अनुभव क्यों नहीं कर पाते आत्मा को ? अनुभव करेंगे जरा ज्ञान के पुजारी बनें आप । केवल प्रश्न से ही कार्य बन जाता तो अति सरल होता किन्तु होता कहाँ है ? साधारण मनुष्यों का क्या कहना, कुछ धर्मों के प्रवर्त्तकों को भी इस आत्मा और अनात्मा के प्रश्न ने चक्कर में डाल दिया ।

आर्यों ने आत्मा, परमात्मा के रहस्य के उद्‌घाटन के लिये अनेक युग बिताये, गृह त्याग किया, बनवासी बने, तत्व का विवेचन किया, फिर

कहीं अनेक युगों के पश्चात्, संसार के सम्मुख अनुभव के आधार पर रहस्य को समझाया । जैसे जल, स्थल, आकाश में वायु की गति है, चाहे वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म हो, वैसे ही आत्मा सर्वत्र है, लोग इसे मानें या न मानें । कैसे यह शरीर में आबद्ध हो जाती है ? जीव के शरीर की बात ही क्या, सभी आकार और निराकार इससे भिन्न नहीं रह सकते । यही वह तत्व है, जिस पर संसार के सभी तत्व स्थित हैं । इसे पहचानने के लिये, प्रहलाद का हृदय चाहिये जिसने सर्वत्र राम की झाँकी देखी । राम को देख न सका हिरण्यकश्यप, क्योंकि उसने अपने अहं को ही सब कुछ समझ रखा था । वह क्या जानता था कि स्तम्भ में भी भगवान हो सकते हैं, किन्तु प्रत्यक्ष को अस्विकार न कर सका । अहं के भाव को छोड़, जरा देखो तो सही, आत्मा कहाँ नहीं है ? कहना पड़ेगा, उस अवस्था में प्रहलाद के शब्दों में - ''तोमें, मोमें, खड्ग खम्भ में ।'' कुछ तो छोड़ो । अहं को लेकर कब तक हिरण्यकश्यप बने रहोगे ? समझदारी का बोझ तुम्हें यदि स्वीकार न करने दे तो इसे बंगाल की खाड़ी में बहा दो ।

यह व्यवसात्मिका बुद्धि तुम्हारा क्या मंगल कर सकेगी ? प्रथम आत्मा की सत्ता को मानों, पहचानों, फिर हम सोचेंगे कि किस प्रकार यह आत्मा - जो बाहरी आत्मा, अन्तरात्मा, अन्त में परमात्मा के रूप में हो जाती है ।

आत्म-जगत् की वस्तु आत्मरहित कैसे हो सकती है ? मृत्युलोक के प्राणी का अन्त मृत्यु प्राप्त करना है, प्राणी चाहे अवतारी हो या साधारण किन्तु मृत्यु परिर्वतन अवश्यम्भावी है । हम जिसे वाह्यात्मा कहते हैं वह उस अवस्था विशेष का नाम है । जब तक हम उसे भीतर का

अवलोकनकर्ता नहीं बनाते, है तो गृहस्वामी किन्तु भ्रमणशील वृत्ति के कारण घर के बाहर ही उसने डेरा डाल रख है । भूल बैठा है कि उसके घर में कौन-कौन सी वस्तुएँ हैं, उन्हें भी देखना है । चक्कर और बाहर ही समाप्त । तब तो इस चक्कर का अन्त कब होना है ? किन्तु कभी-कभी वह इस बाहरी चक्कर से घबड़ा उठता है तो भीतर की ओर भी देखने की इच्छा करता है । जब तक बाहर की वस्तुओं का ही अवलोकन, पुनरावलोकन होता रहा तब तक तो हम बाहरी प्राणी हैं, हमारी गति भीतर की ओर कहाँ ?

जब कभी किसी की वाणी कानों के समीप आती है और कान गर्म करती है और कहती है कि यह क्या हो रहा है ? क्यों शक्ति का दुरुपयोग हो रहा है ? तो ऐसा प्रतीत होता है, मानों हम गहरी नींद में सो रहे थे, किसी ने हमें पुकारा, हम कुछ चौंके - वाणी कुछ तीव्र थी - अब भी हम होश में न आये । वाणी भी हार मानने वाली नहीं । आवाज पर आवाज आने लगी । ये आवाजें धर्म प्रवर्त्तकों, साधु-सन्यासियों तथा सन्त-महन्तों की थी । बाहर, अब भीतर की ओर अग्रसर होने के लिये उत्साह दिला रहा है । बाहरी आत्मा अब अन्तरात्मा की ओर कदम रख रही है । मोहाछन्न वृत्तियाँ अंगड़ाई ले रही है । चेतना कह रही है - ''अब चेत, न । और कब तक यों ही चक्कर लगाता रहेगा ? क्या अब भी कुछ कमी रह गई ? बाहर ही बाहर तो रहे । तुमने जो हीरा पाया उसके प्रकाश का लाभ बाहर ही उठाते रहे । जरा भीतर भी''। गुरु-कृपा और प्रभु-दया से वाणी का प्रभाव अन्तर पटल पर अंकित होने का समय आया । बाहर की दुनिया से मुँह मोड़ा और भीतरी संसार से नाता जोड़ा । दृष्टिपात करते ही प्रतीत हुआ कि यहाँ का खेल तो और भी अद्‌भुत है । वृत्तियाँ अपने

हाथ-पैर फैलाये बैठी है । मैं भूखी हूँ, मैं भूखी हूँ, मुझे अमुक वस्तु चाहिये, मेरे लिये वह लाओ - यह पुकार आ रही थी भीतर की वृत्तियों की । हे भगवान ! अच्छी मुसीबत है । आया था बाहर से भीतर अपनी जान बचाने के लिये और यहाँ तो बाहर से भी अधिक व्याकुलता पाई, अब तो तुम्हीं सहायक हो । वृत्तियों का क्या दोष ? उन्हें अब तक न देखा और न सुना । ये तो गंदले जल की अवस्था में नजर आयीं । जल तो जल ही रहेगा किन्तु यह मैल जरा तह में ठहर जाय तो तुम्हें आनन्द आये । पहली भेंट में ही सब कुछ हो जाय यह कैसे हो सकता है ? अभी तो बाहर से भीतर कदम रखा है, कुछ तो धैर्य से काम लो, यों व्यग्रता कब मंगलदायिनी बनेगी ? अन्तरात्मा का अवलोकन करो । पुनः जब गुरु-कृपा होगी और वाणी अन्तर की वीण में झंकार पैदा करेगी तब देखना कैसा संगीत का समाँ बंधता है । अभी से बेचैन न बनो, कुछ दिन तो यहाँ के मेहमान बनो । अपने ही घर में तुम्हारा आदर होगा । आदर के योग्य तो बनो । यह विचार धारायें उठ रही है अन्तर प्रवेश के समय ।

प्रश्न तो केवल बाह्य आत्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा का था । यों तो सर्वत्र आत्मा का ही राज्य है, किन्तु समझने के लिये एक ही के अनेक रूप कल्पना कर मन को समझाना है । वाह ! भाई मनीराम, तुम भी हो जबरदस्त । मित्र, न तो तुम कर्मेनिद्रयों में और न तुम ज्ञानेन्द्रियों में अपना स्थान रखते हो फिर भी कमाल करते हो यार, कैसे-कैसे करिश्मे तुमने दिखलाये और अभी दिखला रहे हो । तुम्हें हम शामिल बाजा भी नहीं कह सकते अर्थात् जब सभी इन्द्रियाँ कार्य करे तो तुम भी उनमें सम्मिलित हो जाओ । सो बात नहीं साहब ! यह है मन महाराज, ऐसे चंचल, ऐसे चंचल कि प्रचण्ड वायु भी इनके पीछे ही रह जाती है । यदि ये

साथ दे दें तो देखिये कहाँ के कहाँ आप पहुँच जाते हैं । आप गृहस्थी के झंझटों में अपने आपको भूल बैठे हैं, किन्तु मन की कुछ इच्छा हुई और लगे तर्क-वितर्क करने और बुला भेजा बुद्धि को । अब आपका कार्य आपकी दृष्टि से चाहे कैसा भी आवश्यक, गम्भीर आदि क्यों न हो, आपकी एक न सुनी जायेगी और आदेश होगा - उठो, तैयारी करो न बद्रीकाश्रम के दर्शन के लिये । कब तक घर गृहस्थी के चक्कर में लगे रहोगे ? आपको मजबूरन तैयारी करनी पड़ेगी । ये सब खेल हैं मन महाराज के ।

आप हैं बड़े भोले, बड़े खिलाड़ी । बैठे-बैठे आपने चिन्ता को निमन्त्रण दे डाला । अब बेचारा शरीर जलने लगा, शक्ति ह्रास होने लगी, किन्तु दूसरे ही क्षण आपने शांति को पुकारा तो ऐसा प्रतीत हुआ मानों जलते हुए पर जल डाल कर शांत कर दिया हो । बलिहारी है इनकी । पंडितों ने, समझदारों ने आपको ''मोक्ष और बन्धन का कारण'' बताया है । किन्तु ये किसी की कही हुई बातों पर यों ही विचार थोड़े ही करते हैं । इनकी तो मनमौज होती है तो किसी सद्गुरु की वाणी के भिखारी बनते हैं । नहीं तो सम्पूर्ण संसार एक स्वर में पुकार कर कहे पर ये कब सुनने वाले है ? यहाँ तो ऐसी ही मन चली तबीयत पाई है । जीव एक योनि तो क्या चौरासी लाख योनियों में भी भटकता फिरे तो इन्हें परवाह नहीं । यहाँ तो धुन की बात है । धुन आई और आई, यहाँ एक गौतम, एक पंतजली, एक कणाद, एक राम, एक कृष्ण, एक ईसा, एक मुहम्मद की कौन बात कहे, अनेक भी आकर आपको समझावें तो ये कब सुनने वाले हैं ? उन्होंने कब किसकी बात सुनी है, ये तो बहे जाते हैं उड़ जाते हैं । हाँ, कभी-कभी जब आप बहुत व्याकुल होते हैं तो सद्गुरु की कृपा के भिक्षुक बनते हैं । नहीं तो ये हैं मन महाराज ।

इनके लिये तो जैसे ही बाहरी आत्मा वैसी ही अन्तरात्मा । और आत्मा, परमात्मा के वाक्‌वितंडावाद में भला ये कब जाने वाले हैं । जहाँ औरों का प्रवेश नहीं, वहाँ ये पहुँचने का दंभ भरते हैं । ये बालक की तरह चंचल होते हुए निर्विकल्प समाधि में अपना अस्तित्व सा खो बैठते हैं । इनसे काम लेना भी सीधा काम नहीं । हठ कीजिये तो दौड़ पड़ेगें और नचा देंगे आपको ।

मन के लिये बाबा बलदेव के मधुर उपदेश हमें स्मरण हो आते हैं जहाँ वे कहते हैं - ''चंचल मन विषयों के पीछे दौड़ रहा है, चक्कर काट रहा है, दौड़ने वाले के पीछे दौड़ कर क्यों थकते हो ? अपने रूप में लीन हो जाओ । इसका दायरा भी सीमित है । स्वयं लौट आयेगा - पीछे दौड़कर परेशान क्यों होते हो ?''

चित्त की वृत्तियों का निरोध योग है । अवश्य ही यह एक सैद्धान्तिक उपदेश है किन्तु जहाँ इस मन महाराज को निरोध करने की चेष्टा की कि वे ऐसा उपद्रव उपस्थित करते हैं कि शरीर बेहाल सा हो जाता है । सरल मार्ग है मन की सीमा का अवलोकन । कहाँ तक दौड़ेगा ? यह भी दौड़ता है उस समय तक, जब तक आप इसकी गतिविधि पर ध्यान नहीं देते । यह तो उस घुमक्कड़ बालक की तरह हो जाता है जो इच्छानुसार जहाँ कहीं भी घूमने लगता है और चक्कर काटने लगता है । यदि वह जान पाये कि कोई इसे देख रहा है, इसकी सभी बातों का निरीक्षण कर रहा है तो वह सतर्क हो जाता है । चक्कर यह उसी को अधिक खिलाता है जो इसे जानता नहीं ।

जानने का अर्थ यह नहीं है कि हमने तोते की तरह सुनी बातें दोहरा दीं । पाँच कर्मेन्द्रियाँ और पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ है और ग्यारहवाँ मन है । देखना होगा कि मन कहाँ-कहाँ भ्रमण करता है ? कैसे खेल करता है ? आवारा या घुमक्कड़ हो, किन्तु संध्या को बालक घर लौट आता है, बशर्ते कि घर वाले उसके आने-जाने के समय को लक्ष्य करते हों । विश्व की विराट प्रयोगशाला में भी मन की साकार मूर्ति कोई अंकित न कर सका ।

मन का आनन्द जैसा भक्त लेते हैं, वैसा कदाचित् कोई लेता है । मानसिक कल्पना केवल कल्पना मात्र नहीं रहती, वह अपने प्रिय को साकार रूप देती है, उसके साथ खेलती है, नाचती है, आनन्द मनाती है और विपरीत अवस्था में रुलाती है, कलपाती है, व्याकुल बनाती है । केवल मन ने ऐसे अद्‌भुत अलौकिक कार्य किये जिन पर विश्वास करना कठिन हो जाता है ।

ऐसे अनेक धर्मोपदेशक हो गये हैं, जिन्होंने बार-बार इस मन को मारने के लिये आदेश किया है, किन्तु मारने से यह कब मरा ? शरीर का नाश या परिवर्तन हो जाता है लेकिन मन का नाश कब हुआ ? मन, बुध्दि, अहंकार, सूक्ष्म शरीर ही भविष्य का जीवन बनाते हैं । कबीर ने क्या ही सुन्दर कहा है - ''माया मरी न मन मरा, मर मर गये शरीर । आशा तृष्णा ना छुटी, कह गये दास कबीर'' । मन मनन का विषय होना चाहिये न कि दंडित करने का ।

दो धारणायें आधुनिक युग में प्रचलित हैं - एक प्राचीन और दूसरी अर्वाचीन या आधुनिक । शिक्षा के लिये मानस तत्वज्ञों का कथन है कि

छात्रों को दंडित कर शिक्षा देना अनुचित एवं अन्याय पूर्ण तथा अज्ञता सूचक है। दंड का विधान ही उनकी दृष्टि में अमानुषिक है । उनका कथन है कि विषय रोचक बनाया जाय तो छात्र आनन्दित हो उसे ग्रहण करेगा । किन्तु दंड उस अवस्था में देना जब कि बालक समझने में असमर्थ है, अनुचित है । मन के लिये भी ऐसा ही कहना अनुचित नहीं । मन पर आप शासन करें, किन्तु ऐसा शासन न करें कि मन आपके शासन में रहना ही न चाहे । मन मारा नहीं जा सका, मन को समझाया जा सकता है । बालक में चंचलता स्वाभाविक होती है । यह शिक्षक का कार्य है कि वह इस अवगुण कहलाने वाली चंचलता का अवरोध कर कार्य में लगाये । चंचलता है नवीनता के लिये । यदि विषय में नवीनता का समावेश किया जा सके तो वह रोचक हो जाता है । गणित की शुष्कता जग विख्यात है, किन्तु गणितज्ञों के लिये वह उतना ही प्रिय है - जैसे कवि के लिये उसकी कल्पना एवं काव्य रचना है ।

चंचलता और स्थिरता ये दो स्थितियाँ हैं, जिसमें एक के त्याज्य तथा दूसरे के ग्राह्य की आवश्यकता है ।

मन की चंचलता मनुष्य को एक क्षण के लिये भी शांत नहीं होने देती है । उसकी अवस्था ऐसी होती है जैसे तेल में पड़े बड़े की । तेल की उष्णता, बड़े की कोमलता को, उसके जलीय भाग को जला कर लाल कर डालती है । यहाँ मन भी स्नेह में पड़ा हुआ विषयों से जला करता है । उसकी कोमलता और स्निग्धता गायब-सी हो जाती है । ऐसी भी विचारधारा है कि मन को समझाने की कब चेष्टा की जाती है यहाँ तो उसे भला-बुरा कहने से ही अवकाश नहीं प्राप्त होता । मन का क्या दोष है ?

चंचलता उसका धर्म है । अब यदि आप शान्ति के उपासक हैं तो उसे समझा बुझा कर राह पर लायें अन्यथा वह अपने कार्य में सदा रत रहेगा । आप जीवन से लाभ उठा पावें या नहीं - इसका अवलोकन उसका काम नहीं, यह तो बुद्धि का है । मन, बुद्धि और अहंकार ने ही तो जीव को अनेक खेल दिखलाये हैं और दिखलाते रहेंगे, जब तक कि एक-एक को आप समझने की चेष्टा न करें ।

इस चेष्टा के विषय में भी दो शब्द समझ लेना आवश्यक है । जीव कुछ अंश तक बद्ध है तथा कुछ अंश तक मुक्त है ऐसा एक पक्ष का कथन है । दूसरा पक्ष कहता है - नहीं, नहीं जीव कब स्वतन्त्र हुआ वह तो प्रभु के इशारे पर नाचने वाली कठपुतली है, जैसा कठपुतली को नचाया जाता है वैसा ही वह नाचती है । इस पर भी वह यदि यह समझ बैठे कि मैं नाचती हूँ तो यह उसकी भूल है।

बद्ध और मुक्त ये अवस्था विशेष है । पूर्व संचित कर्म के अनुसार जीव का प्रारब्ध रचित हुआ है । उन्हीं कर्मों का भोग जीव भोगता है अपने जीवन काल में । अब यदि सभी पूर्व कर्म यहाँ भोग लिये जाते तो भविष्य जीवन बनता नहीं और पाप-पुण्य भी गौण क्या, कुछ भी नहीं रहते, क्योंकि दिन सुख से बिताये जायें या दुःख से कर्मों का अन्त हो जाता और मुक्ति फिर जाती कहाँ है ? काम किया और छुट्टी, कर्म किये और मुक्ति । किन्तु होता कहाँ ? कुछ नवीन कर्म करने के लिये प्राणी स्वतन्त्र है और वही कर्म तथा प्राचीन कर्म मिलकर नवीन कलेवर की तैयारी की जाती है ।

भगवान से एक चतुर भक्त ने बड़ी प्रवीणता से मुक्ति की प्रार्थना की । वह कहने लगा - भगवन् नाचते नाचते तो थक चला अब यदि मेरे नृत्य ने आपको प्रसन्न किया है तो जो मैं माँगू वह मुझे दिया जाय और यदि नृत्य आपको पसन्द नहीं आया हो तो ऐसी आज्ञा दीजिये ताकि नाच से फुरसत मिले । वह था चालाक । वह चाहता था छुटकारा, चाहता था मुक्ति । ये हैं भक्त जो कभी भगवान के लिये आँसू बहाते हैं, और कभी भगवान ही उनके लिये व्याकुल हो सब कुछ करते देखे जाते हैं ।

वैज्ञानिक युग में ऐसी बातें अटपटी प्रतीत होती है । यहाँ तो ऐसी बातें रखी जाये जो तर्क की कसौटी पर खरी उतरें । ये भक्त - भावना - भगवान आदि बातें तो अरुचिकर हो चली है । साहब, हमें चाहिये रोटी, वस्त्र और रहने का स्थान । यदि आपकी भक्ति हमें ये दे सकें तो हम इसे स्वीकार करें अन्यथा ये तो निकम्मे पंडितों के गपोड़े हैं जिन्हें पेट भरे लोग सुना या पढ़ा करते हैं और संसार को धोखा देने के लिये इसका भी प्रयोग करते हैं । रोटी की भूख क्या आपकी भक्ति मिटा सकेगी ? वहाँ यदि यह कहा जाये ''जगत् मजूरी देत है - क्यों राखे भगवान'' । या ''योग क्षेम वहाम्यहम्'' तो लोग कहेंगे कि यह इस युग की बात नहीं । रूढ़िवादी बातें सुनने के लिये यहाँ कब अवकाश है । तो कैसे तसल्ली आपको दी जाये ? रोटी को प्रधानता देना अपनी मानसिक हत्या करना है । फिर आप यह भी कह सकते हैं कि रोटी को प्रधानता न देने से तो शरीर की हत्या करनी होगी ।

अब आप सोचें, शरीर की हत्या और मन की हत्या ये दो प्रश्न हैं । शरीर को प्रधान मानने वाले शरीर की रक्षा करें, उसके रक्षा साधन का

प्रबन्ध करें किन्तु मन की रक्षा भी अपेक्षणीय है । मन मर गया तो शरीर तुम्हारे लिये जीवित रहते हुए भी भार रूप रहेगा । तुम इस भार को वहन करने में अपने को असमर्थ पाओगे । हो सकता है कि आज की दृष्टि से तुम्हारी रोटी, परमात्मा की भक्ति से भी बढ़कर है, किन्तु वह दिन दूर नहीं जब तुम्हारी रोटी - यह रोटी की भावना तुम्हें खा जाय । तुम्हारे मन को कोसे । इस 'रोटीवादी' ने जग का कभी कल्याण नहीं किया है । कबीर की वाणी शायद आप भूल बैठे - ''रचनकार को चिन्हले, खाने को क्या रोय । मन मन्दिर में पैठ कर तान पिछौरी सोय ''।

रोटीवाद भारत भूमि पर पनपने वाला सिद्धान्त नहीं । जहाँ से आवाज उठी है वहीं इसकी समाप्ति होगी । एक बात और है जैसे शरीर को रोटी देने की लिये चिल्लाते हो, उसी प्रकार मन को भी अच्छे विचार रूपी रोटी खिलाओ । नहीं तो यह रोटी की पुकार मन को और भी व्याकुल बना देगी । तुम्हारे आधुनिक युग के विचार तुम्हारी रक्षा न कर सकेंगे ।

शरीर की हत्या मन की ही हत्या है । आत्मा की हत्या तो होती नहीं । बचो इन घातक विचारों से जो तुम्हें अमृत सदृश प्रतीत हो रहे हैं । रोटी, रोटी ही तक सीमित रहे - वही सर्व प्रधान न बन जाय । यह मन महाराज की कृपा है जो तुम्हें नचा रहा है विचारों की रस्सी द्वारा । रस्सी अब भी उसके हाथ में है । तीन युग बीत गये, चौथा बीत रहा है । किन्तु मन आज भी तरूण बना है , तरुणी को देखकर तो और भी बेहाथ हो जाता है । ''कामिनी और कंचन'' का त्याग करो, इसका उपदेश आज तक होता आ रहा है, लेकिन हुआ कब ? उपदेशक का गला भले ही थक जाय, पर श्रोता कब ध्यान देता है ? उसने तो कल्पित विचारों की मदिरा पी कि

उपदेष्टा को भी यह कहने में श्रोता ने संकोच न किया, ''अरे कमबख्त, तूने पी ही नहीं ।''

मदिरा का मद जब प्राणियों को असहनीय हो जाता है तो 'दयामय' इन कृतघ्न प्राणियों पर कृपा करते हैं और भेजते हैं किसी महात्मा को जो अपनी वाणी द्वारा पुनः उन्हें शान्ति प्रदान करते हैं जो विचारों की भट्टी में जल रहे थे ।

मन की कुछ बातें हुई । मन का विवेचन सरल कहाँ ? यह बात भिन्न है कि उसके कुछ कार्य जो भीतर की दुनिया में खेल दिखला रहे थे वे बाहरी जगत के सम्मुख रखे गये । मन विषयों का दास है ऐसा कहा जाता है और ऐसा भी कहा जाता है कि विषय मन को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं । विषय या वस्तु का अपना एक गुण या धर्म हुआ करता है । मन की इच्छा हुई तो उसने उस वस्तु विशेष से सम्पर्क जोड़ा, नहीं तो वह चाहे मन के समीप ही क्या, अति समीप भी आ जाये तो कब ध्यान देता है ? विषय मन को खींचते हैं, ऐसी बात नहीं । घुमक्कड़ मन घूम रहा है, कोई वस्तु आई, आप उसकी ओर भी दो क्षण दृष्टिपात कर आगे बढ़े । इसे कोई मन का आकृष्ट होना कहे तो कहे । यह तो सदा चक्कर काटता है । बन्दर जैसे एक शाखा से दूसरी शाखा पर जाता है और इसी प्रकार दिन भर बिता देता है वैसे ही मन भी न केवल दिन बल्कि रात्रि में भी स्वप्न में खेल दिखलाता तथा समय बिताता है । एक शरीर से इनका खेल कब पूर्ण होता है । शरीर पर शरीर बदले जाते हैं फिर भी इनके खेल समाप्त नहीं होते । यही तो इनकी विशेषता है । आप इन्हें (मन को) समझाईये, डाँट, डपट से काम नहीं चलेगा । बुद्धि जरा प्रेम से बातें करें, उन्हें समझावें तो

फिर भी कुछ काम बन सकता है, नहीं तो ये कब वश में होने वाले हैं ? साठ हजार वर्ष का तप एक क्षण में विलीन कर लेने वाले हैं ये । इन्हें इस बात की चिन्ता नहीं कि शरीर पर क्या बीतेगी ? बुद्धि कैसी कराहती रहेगी ? नेकनामी, बदनामी का क्या हाल होगा ? कुछ विचार नहीं । जिनका काम विचार करने का है वे करें, ये तो भ्रमण करेंगे । इसे आप भला समझें या बुरा, यह आपके लिये है । घूम फिर कर भी घर आते हैं किन्तु कोई जाने पहचाने तो उनसे लाभ उठा लें नहीं तो इनका दौरा फिर आरम्भ हो जाता है ।

इसीलिये सूरदास बोल उठे -

''रे मन मूरख, जन्म गँवायो ''।

और अन्त में यहाँ तक कहते हैं -

''हाथ कछु नहीं आयो ''।

भक्त सूरदास चिन्ता करें, मन क्यों ध्यान देने लगा ? हाँ, कुछ प्यार से काम लो तो काम बने । मन का धन पाकर भी यदि आप इसका सद्व्यय नहीं कर सके तो इसके लिये दोषी कौन ? वहाँ फिर भक्त हृदय कह उठेगा - ''आप क्या कह रहे हैं ? भगवान की इच्छा के विपरीत वृक्ष का पत्ता भी नहीं हिल सकता, वहाँ आपका मन क्या करेगा ?'' वहाँ फिर दूसरा पक्ष उत्तर दे सकता है - ''भाई, जैसा आप कह रहे हैं यह आपका कथन मात्र है या आपका अटल विश्वास है । आप अपने को धोखा तो नहीं दे रहे है ? यदि आप सभी कार्यों को उसकी इच्छा मानते है, उस पर श्रद्धा और विश्वास रखते हैं तो बहुत अच्छा है । किन्तु मन में कुछ, मुख में कुछ और कार्य में कुछ । तब तो आप दुरात्मा ही कहलायेंगे । बात स्पष्ट है कि जैसे विचार आप रखते हैं वैसे ही आपके वचन और उसी के अनुकूल

कार्य, तब तो आपका कार्य बने, अन्यथा यह धोखा क्यों ? यह मिथ्या प्रचार क्यों ?''

मान-प्रतिष्ठा के अनेक भूखे कहा करते हैं - हमें मोह, शोक, सुख, दुःख व्याप्त नहीं होता - वहाँ बाबा बलदेव का स्पष्ट कथन है - क्यों मिथ्या का आश्रय ले भ्रमपूर्ण विचारों का प्रचार कर रहे हो ? वह भी केवल मान प्रतिष्ठा के लिये । यह सरासर अनुचित है । शरीर का धर्म है ताप और शीत को पाकर फैलना और सिकुड़ना वैसे ही विचार जब मन पर आक्रमण करते हैं या मन भ्रमण करता हुआ जब उनके समीप जाता है तो भावों को अनुभव में लाना पड़ता है । ये भाव भी स्थिर नहीं रहते । आते हैं अंधड़ की तरह तथा झकझोर डालते हैं सम्पूर्ण शरीर को, मन को । किन्तु आते हैं अल्प समय के लिये और चले जाते हैं क्षतिग्रस्त चिन्ह छोड़कर । मन उन घावों को अवसर पाकर फिर आहत करता है । बुद्धि दूर ही से तमाशा देखती रहती है, किन्तु वहाँ बुद्धि का प्रवेश मन कब होने देता है ? जब तक झंझावात का प्रचण्ड वेग रहता है वस्तुएं बेहाल सी हो जाती है, उस समय ऐसा प्रतीत होता है कि किसकी रक्षा होगी और कौन नष्ट-भ्रष्ट होगा कहा नहीं जा सकता ।

भावों की आँधी काल वैशाखी से भी भयंकर होती है । श्रावण, भाद्रपद के काले-काले बादल देखकर ऐसा प्रतीत होता है न जाने कितनी वृष्टि होगी, कब तक अन्धेरा छाया रहेगा, कब पुनः भगवान सूर्य के दर्शन होंगे आदि भाव आते हैं । किन्तु ज्यों ही विपरीत भावों की वायु प्रवाहित हुई कि बादलों का कहीं पता भी नहीं चलता । हाँ, यह हम दैनिक जीवन में देखते हैं कि भाव आते हैं और जाते हैं और अपने कुछ विचार हृदय पर

छोड़ जाते हैं, किन्तु उनका स्थायी वास भी हमारी अज्ञता का कारण है ऐसे ज्ञानी कहते हैं ।

हमें अब भक्त और ज्ञानी की बातें निकट होकर सुननी तथा मनन करनी चाहिये । भक्त कहता है - ''जो कुछ होता है उसका कर्ता सृष्टिकर्ता है।'' ज्ञानी कहता है - ''जो हो रहा है उसके जिम्मेदार तुम हो, तुम्हारी चचंल वृत्तियाँ है । सोचो, किस प्रकार इनका शमन और दमन हो ।''

ज्ञान और भक्ति का भी झगड़ा शुरू हुआ तो कहना होगा अविद्या का पूर्ण राज्य है । यह अवश्य देखा जाता है कि भक्त कवियों ने भगवान की भावना में ऐसे-ऐसे पदों की रचना की कि मुक्ति इनके लिये अनावश्यक ही नहीं उपहासास्पद सी प्रतीत हुई । हमें मुक्ति नहीं, भक्ति चाहिये, जहाँ हम श्री चरणों में लोट-लोट कर हृदय की जलन शान्त कर सकें । ब्रज की गोपियों ने उद्धव के निराकार ब्रह्म की ऐसी दिल्लगी उड़ाई कि सूरदासजी ने मानों उद्धव को निरुत्तर सा कर दिया हो और ब्रह्म ज्ञान को ''फेन'' की उपमा देकर ही शान्ति ली ।

गोपियाँ कहती है -

''ऊधो, ब्रज की दशा विचारो,
ता पाछे यह सिद्धि आपनी, जोग कथा विस्तारो'' ।

और भी कहा है -

जोग जुगुति अरु मुकुति परमनिधि,
वा मुरली पर वारों ।
जिहि उर कमल नयन जू बसत है,
तिहि निर्गुण क्यों आवौ ?

सूरदास सा भजन बहाऊँ,
जाहि दूसरो भावै'' ।।

केवल सूरदास ही इस मार्ग के पथिक हैं सो नहीं और भी आते हैं जिन्हे मुक्ति नहीं भक्ति चाहिये ।

उधर मुक्ति के अधिकारी कहते हैं - ''ज्ञान के बिना मुक्ति कहाँ ? भक्ति वहाँ गौण पड़ जाती है - ज्ञान ही प्रधान है । यह झगड़ा आज का नहीं अनादि काल से चला आ रहा है किन्तु हम तमाशबीन बन कर तो नहीं रह सकते ।

अपने विचार प्रकट करने के पूर्व हम परमहंस रामकृष्ण के विचार इस सम्बन्ध में रख देना अपना कर्तव्य समझते हैं । अति सरल भाव से आपने सगुण और निर्गुण तथा साक्षात्कार और नवीन तत्व को समझाया है, उनका कथन है कि तब तक (जब तक माता की कृपा से अहंकार नष्ट नहीं होता और ब्रह्म ज्ञान का सम्यक् प्रत्यय नहीं आता तब तक) मेरा 'मै' कायम ही रहता है और अपने लड़कों को, भक्तों को नाना दिव्य रूपों से दर्शन देने वाली, श्री. कृष्ण, चैतन्यदेव इत्यादि अवतारी पुरुषों के रूपों से प्रकट होने वाली और पाँच स्थूल महातत्व पाँच सूक्ष्म महातत्व, पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार चौबीस तत्वों के जीव और जगत के रूपों से नटने वाली मेरी सर्वप्रथम माता का (सगुण परमेश्वर का) साक्षात्स्वरुप भी मेरे आगे मुझे दीखता रहता है । उस सगुण स्वरूप का ज्ञातृत्व भी मुझे नहीं छोड़ता । हाँ, सब जीवों में 'मैं' 'मैं' कहने वाले और जीव को संसार-पाश में बाँधने वाले अहंकार की धूरी यह

जीव जो नहीं हटा सकता, यह भी उसी का (माता का) अभाव है । दूसरे मेरी माता ही भक्त को भक्ति का मार्ग दिखलाती है और उसके अहंकार को अविद्या के चक्कर से छुड़ाकर विद्या के सुखमय प्रदेश में उसे लाती है । इस प्रकार वह उस अहंकार में रेखा का सूक्ष्मत्व लाती है ।

इसके सिवाय, उसका अनन्य सामर्थ्य देखिये । वह अपने कृपापात्र जीव के अहंकार को मिटाकर उसमें ब्रह्म-ज्ञान उदित करती है । यह स्थिति आने के लिये, उसकी कृपा से जीवात्मा और परमात्मा की समरसता होनी चाहिये, जीवात्मा का परमात्मा में लय होना चाहिये । अहंकार को हटा देने का सामर्थ्य तुम में नहीं है । जिन्होंने समाधि में ब्रह्म-रस चखा है वे भी माता की इच्छा से, फिर नीचे की सीढ़ी पर उतरते हैं जगत की भावना उनमें फिर उत्पन्न होती है और इसके बाद सगुण ईश्वर का अनन्य भाव से ध्यान अथवा चिन्तन करने भर के लिये उनमें अहं वृत्ति फिर उत्पन्न होती है । सप्त स्वरों में 'नी' इस स्वर पर बराबर स्वर निकालना कितना कठिन है ? जब तक व्यक्ति के नाते तुम्हारा स्वत्व कायम है तब तक यदि परमेश्वर चाहेगा, तो वह तुम्हें सगुण रूप से दर्शन देगा । अथवा जब तक तुम्हारा व्यक्तित्व लय नहीं हुआ तब तक, सगुण के सिवाय परमेश्वर के अन्य किसी रूप की भी तुम्हें कल्पना नहीं हो सकती अथवा तुम उसके किसी रूप का भी मनन, चिन्तन या आँकलन नहीं कर सकते । ऐसा ही कुछ तुम्हारे अंहकार का स्वरूप है । तुम्हारे अहंकार की रचना ही ऐसी है ।

सोपाधिक अहंकार का जीवात्मा का परमात्मा में लय करना अद्वैत का साध्य है परन्तु माता ने साधारण जनों के लिये इस साध्य की योजना नहीं की है । क्योंकि अहंकार की यह श्रंखला ही कुछ ऐसी है कि अधिकांश

लोग इस जन्म में अथवा आगे के कुछ थोड़े से जन्मों में उसको नहीं तोड़ सकते । अतएव जब तक सामान्य जन, समाधि तक न पहुँच सकें तब तक उन्हें सगुण ईश्वर का ही अनन्य भजन और चिन्तन करना चाहिये । क्योंकि सत्पुरूष, शास्त्र और साक्षात्कार एक मत से कह रहे हैं कि निरुपाधिक ईश्वर ही सोपाधिक होकर - निर्गुण ब्रह्म ही सगुण होकर - मनुष्य को, भीतर और बाहर प्रतीत होता है । ये सगुण रूप कुछ कम सत्य नहीं हैं । किन्तु इसके विरूद्ध शरीर अथवा मन अथवा इस जगत के पसारे से कहीं अधिक वे सत्य हैं । इसीलिये ज्ञानी पुरूष सगुण ईश्वर की आवश्यता बतलाते हैं ।

इस सृष्टि के कार्य में मेरी माता ने स्वेच्छा से मेरी आत्मा (सोपाधिक आत्मा-जीवात्मा) की भूमिका ली है, इतना ही नहीं वरन् वाह्य सृष्टि अथवा जगत के रूप से वही अवतीर्ण हुई है । एक बार निर्विकल्प समाधि का अनुभव लेकर जो जागृति में आता है उसमें बिल्कुल सूक्ष्म (केवल रेखा के समान सूक्ष्म) अहंकार बाकी रहता है, सचमुच उसका अहंकार (स्वत्व) इतना दुर्बल होता है कि उसके दिव्य चक्षुओं के योग से उसे यह अनुभव होता है कि मेरी माता ही इन अनेक रूपों से - स्वयं मेरे अन्य जीवों और जगत के रूपों से नाट्य कर रही है । उत्क्रान्ति मलिका में, भीतरी और बाहरी जगत में, चौबीस तत्वों अथवा पदार्थों के रूप में नाट्य करने वाली मेरी माता के दिव्य मुख का दर्शन प्रत्येक को नहीं हो सकता, वह दर्शन सुख सब को नहीं मिल सकता । निर्विकल्प समाधि में जिसने निर्गुण ब्रह्म का साक्षात् अनुभव किया है और सविकल्प समाधि में सगुण और साकार ब्रह्म का जिसे प्रत्यय आया है, उसी को केवल उसे दिव्य रूप का दर्शन हो सकता है ।

सच है समाधि में जिसकी अहंवृत्ति का लय होता है और ब्रह्म में तदम्य होकर उसका सम्यक् प्रत्यय जिसको आता है उसे एक अदृश्य शक्ति नीचे जगत में - जागृति में - फिर खींच लाती है । वह अदृश्य शक्ति कौन है ? इस प्रश्न का उत्तर पाने के लिये हमें फिर अपनी सर्व समर्थ माता की ओर ही झुकना चाहिये । समाधि में अहंकार कायम रखना और उसे मिटा डालना, ये दोनों बातें, केवल एक उसी के हाथों में है ।

तत्वज्ञानी और तार्किक कहता है कि समाधि में पहुँचा हुआ योगी अपने कर्म के कारण ही पूर्वजन्मार्जित कर्म के कारण ही फिर जगत में आ पड़ता है । उसका कर्म उसे जागृति में लाने का कारण होता है । अर्थात् जब तक अहंवृत्ति कायम रहती है तब तक कर्ता और कर्म का जोड़ा नहीं छूटता । उसी प्रकार कार्य और कारण का लय भी नहीं होता । केवल यही नहीं किन्तु करोड़ो जीव, चौबीस तत्वों से युक्त यह जगत, भूत, वर्तमान और भविष्य आदि काल, पूर्व जन्म, पुनर्जन्म इत्यादि सर्व भेदा-भेद बिल्कुल सत्य बने रहते हैं । उसी प्रकार इन सब भेंदों का कारण बनाने वाला सर्व शक्तिमान ईश्वर (मेरी माता) सगुण परमात्मा भी बिल्कुल सत्य ही रहता है ।

साक्षात्कार से इस कथन की पुष्टि होती है । क्योंकि माता कहती है - ''इन सब भेदों का कारण मैं ही हूँ । सत्कर्म अथवा दुष्कर्म मेरे तन्त्र से चलते हैं । कर्म का बन्धन है जरूर, पर उस बन्धन का कारण मैं ही हूँ । बन्धन में डालना और बन्धन से निकालना ये दोनों बातें मेरे हाथ की है । सब कर्मों पर सत् अथवा असत् पर मेरी ही सत्ता चलती है । इसलिये तुम सब मेरी ओर आओ मैं तुमको संसार से, कर्म सागर से पार कर दूंगी ।

फिर तुम चाहे जिस मार्ग से आओ, चाहे तो ज्ञान मार्ग से आओ अथवा कर्म मार्ग से आओ । तुम्हारी इच्छा हो तो मैं तुम्हें ब्रह्म का ज्ञान भी करा सकती हूँ । समाधि तक पहुँचने के बाद भी यदि कर्म बाकी होगा तथा शरीर और अहंकार यदि कायम होंगे तो ऐसा समझो कि उस कर्म, शरीर और अहंकार को कायम रखने का प्रबन्ध मैंने ही किसी विशिष्ट हेतु से किया है'' ।

अपने लड़कों को, अपने भक्तों को उसने (माता ने) इन सब बातों का ज्ञान साक्षात्कार के द्वारा करा दिया है । अतएव कोई चाहता हो कि हमें ब्रह्मज्ञान हो तो उसे ब्रह्मज्ञान प्राप्त होने के लिये, बड़ी आतुरता से उस माता की विनती करनी चाहिये और सब प्रकार से उसी पर अपना भार डाल देना चाहिये - अनन्य गतिक होकर उसकी शरण में जाना चाहिये - इतने पर, अन्त में, उसे वह ज्ञान अवश्य ही प्राप्त होगा ।

ब्रह्मज्ञान के लिये आतुर होकर भक्त जब मेरी माता (अथवा उसके किसी रूप) के पास आता है, तब उसकी भक्ति में अहंकार का मिश्रण रहता है परन्तु अन्त में, माता की कृपा से, समाधि में उसके अहंकार का पूर्णतया अस्त हो जाता है । कर्ता और कर्म के भेद का कारण सगुण ईश्वर (सगुण ब्रह्म) मेरी माता ही है । समाधि में यह अहंकार नष्ट करके वही (मेरी माता ही) ब्रह्म का ज्ञान करा देती है । ''यह कहती है'' । इस बात का ज्ञान हमें साक्षात्कार से होता है । जिस तत्वज्ञ का साक्षात्कार पर तथा तर्क बुद्धि पर भी विश्वास नहीं होता, वह यह कहता है कि 'सगुण ईश्वर के द्वारा जीवात्मा को मुक्ति अथवा ब्रह्मज्ञान का लाभ कदापि नहीं हो सकता''। तत्वज्ञ या ज्ञानी पुरुष जब यह कहता है कि 'ब्रह्म का ज्ञान मैं स्वयं ही कर

सकता हूँ तब वह नीचे की दशा में ही (सापेक्ष अथवा दृश्य जगत में) मैं और तू का भेद जिसमें बना रहता है, ऐसी स्थिति में रहता है । उस स्थिति में तुम्हें स्वाभाविक ही सगुण ईश्वर मेरी सर्व समर्थ माता का अस्तित्व मानना चाहिये ।

वह कथन बिल्कुल विलक्षण जान पड़ता है कि जीव अपनी संकुचित बुद्धि के बल पर ब्रह्मज्ञान स्वयं कर सकता है, परन्तु मेरी माता में वह ज्ञान करा देने का सामर्थ्य नहीं । अथवा जीव में स्वयं मुक्ति पद प्राप्त करने का सामर्थ्य है, परन्तु मेरी सर्व समर्थ माता में जीव को मुक्ति पद पर पहुँचाने का सामर्थ्य नहीं । उक्त तत्वज्ञ यह भूल जाते हैं कि सगुण और निर्गुण दोनों एक ही व्यक्ति के अंग हैं । जब तक हमें अपने व्यक्तित्व स्वत्व अथवा अंहकार की भावना रहती है, तब तक परमेश्वर हमें अपनी अनन्त शक्ति का सगुण रूप ही दिखलायेगा । अर्थात् उसकी उस अनन्त शक्ति में ब्रह्म का ज्ञान करा देने वाली शक्ति का भी अन्तर्भाव रहता है । परन्तु केवल तर्क भी एक शिथिल मुसाफिर है । केवल उसके सहारे से चलना बड़ी अनिश्चितता और धोखे का काम है । इसके अतिरिक्त जिस तर्क बुद्धि पर तत्वज्ञ पुरूष का सारा दारमदार रहता है वह भी तो सगुण ईश्वर ही से प्राप्त होती है । अतएव केवल अद्वैतवादियों के मत में एक नवीन तत्व की विशेषता हुई । यह नवीन तत्व यही है कि ब्रह्म का ज्ञान सगुण ईश्वर के द्वारा होता है अथवा सगुण ईश्वर में ब्रह्मज्ञान करा देने का सामर्थ्य है । अहंभाव का पूर्णतया लय हो जाने पर समाधि में ब्रह्म - साक्षात्कार होना और ब्रह्म का अस्तित्व अथवा अनस्तित्व के विषय में कुछ भी प्रतिपादन न करते हुए निःशब्द हो जाना ही शुद्ध ज्ञान है ।

अद्वैत के विषय में ज्यों ही बात निकाली गयी कि बस समझ लो, द्वैत आ गया क्योंकि जहाँ एक आया कि फिर दूसरा भी आना ही चाहिये । एक का उच्चारण करते ही दूसरे का अस्तित्व आप ही आप सिद्ध हो जाता है । सारांश, जहाँ अद्वैत के विषय में शब्द निकला कि बस उसके साथ ही द्वैत खड़ा हो जाता है । ज्यों ही ब्रह्म बोला गया - अर्थात् ज्यों ही वह वाचा का विषय हुआ कि तुरन्त ही उसके पीछे सापेक्षता लगी । क्योंकि समाधि में निरुपाधिक या शुद्ध ब्रह्म का अनुभव नहीं मिलता, तब तक वह निरुपाधिक ब्रह्म (शुद्ध ब्रह्म) बहुत होगा तो 'सोपाधिक' के विरूद्ध अर्थ की कोई वस्तु होगा अथवा वर्णमाला के कुछ अक्षरों से बना हुआ, केवल, कोई शब्द होगा, बस ।

नित्य के नियम में जब हमने बात निकाली कि बस यह लीलामय (अनित्य) जग आगे आयेगा ही । 'अव्यक्त' शब्द का उच्चारण करते ही व्यक्त की भावना अवश्य ही पीछे लगेगी । उदाहरणार्थ प्रकाश आया कि फिर उसके विरूद्ध अन्धकार का विचार आयेगा ही अथवा सुख का नाम लेते ही उसके प्रतिद्वन्दी दुःख की याद आयेगी ही । जगत का अनित्य अथवा लीलामय भाग जिसका है उसी का अनित्य भी है । (नित्य और अनित्य दोनों एक ही व्यक्ति के दो भाग है) नित्य की ओर यदि हमें जाना है तो अनित्य से - इस दृश्य जगत से होकर मार्ग निकालते - निकालते हमें जाना होगा । अच्छा, नित्य से जब हम चलेंगे तब भी मार्ग ढूँढते-ढूँढते लौट कर हमें अनित्य में ही - दृश्य जगत में ही आना होगा । परन्तु हाँ, इतना अवश्य है कि यह दृश्य जगत् पहले की तरह मिथ्या न मालूम होते हुए नित्य का अथवा अव्यक्त का केवल व्यक्त रूप जान पड़ने लगता है ।

यदि तुम ब्रह्म का स्वरूप बतलाने लगो तो अवश्य ही प्रायः तुम उसके यथार्थ निरुपण या प्रतिपादन कभी नहीं कर सकोगे । तुम्हारे द्वारा उस पर और ही किसी बात का - तुम्हारे स्वत्व या अहंकार का अभ्यास ही होगा । तुम्हारे स्वत्व के पुट अथवा रंग उस पर चढ़े बिन कभी न रहेंगे । तात्पर्य इतना ही है कि हमें फिर साक्षात्कार पर ही पूर्ण निर्भर रहना चाहिये । परमेश्वर ही (मेरी माता ही) कहता है कि ''सगुण ईश्वर मैं ही हूँ और समाधि के अनुभव में आने वाला निर्गुण ईश्वर (ब्रह्म) भी मैं ही हूँ'' । इधर देखिये कि मट्ठे का अस्तित्व स्वीकार किय बिना हम मक्खन की कल्पना भी नहीं कर सकेंगे । किम्बहुना, उसका नाम भी नहीं ले सकेंगे । मक्खन जिस प्रकार मट्ठे का ही भाग है उसी प्रकार मट्ठा भी मक्खन का भाग है । मक्खन का नाम लेते ही, सापेक्षता से, जैसे मट्ठे की कल्पना आ ही जाती है वैसे ही मट्ठे का नाम लेने पर सापेक्षता से मक्खन की कल्पना आये बिना कभी न रहेगी । व्यक्तित्व जब तक बना हुआ है - भावना जब तक जीवित है और कुछ भी विकल्प जब तक बाकी है - तब तक मक्खन और मट्ठा दोनों का अस्तित्व स्वीकार किये बिना अन्य मार्ग ही नहीं है । जब तक तुम्हारा व्यक्तित्व नहीं गया, जब तक माता की इच्छा से तुम्हारा अंहकार बना हुआ है तब तक जहाँ तुमने 'निरुपाधिक' का नाम लिया कि उसके साथ सोपाधिक तैयारी ही है ।

'नित्य' कहते ही 'अनित्य' सामने खड़ा रहेगा, तुम्हारे 'वस्तु' कहते ही उस 'वस्तु' के गुण तुरन्त ही आगे आयेंगे । तुम निर्गुण लाये कि 'सगुण' तुम्हारे पीछे लगा ही है, 'एक' का उच्चारण नहीं करने पाओगे कि 'अनेक' उसका साथी खड़ा ही रहेगा । जब माता समाधि में तुम्हारा अहंकार (व्यक्तित्व) नष्ट कर डालेंगी, तक ब्रह्म का सम्यक् प्रत्यय

आयेगा ही । फिर सम्पूर्ण शब्द बन्द, और ''वहाँ जो कुछ होगा वह वहाँ का वहीं''। क्योंकि समुद्र की थाह लेने के लिये गई हुई नमक की पुतली जब अनन्त महासागर में तद्रुप हो गई, तब फिर वह (उस समुद्र के विषय में) क्या बोले ? कुछ बोल ही नहीं सकती । यह स्थिति यदि दृष्टान्त से वर्णन की जा सकती है, तो हम यह कह सकते हैं कि समाधि के अनुभव में आने वाला ब्रह्म मूल दूध है, उस अव्यक्त ब्रह्म का व्यक्त अथवा सगुण रूप मक्खन है और चौबीसों तत्वों से युक्त यह जगत मट्ठा है । मेरी माता ने (ब्रह्म के सगुण अंग ने) यह कहा है कि 'मैं वेदान्त का ब्रह्म हूँ'। ब्रह्म ज्ञान देना मेरे हाथ में है । अहंकार मिटाकर और समाधि में ब्रह्म साक्षात्कार करा कर मैं ब्रह्मज्ञान देती हूँ । एवंच पहले यह है कि यदि माता की कृपा होगी तो ज्ञान मार्ग से तुम ब्रह्म पद पा सकोगे । परन्तु, इससे विशेष कर कलियुग में बहुत थोड़े लोग पहुँच सकते हैं । क्योंकि हममें जो देहात्म बद्धि भरी हुई है, उसका छूटना बहुत कठिन है ।

'क्लेशाऽधिकतरस्तेषाम व्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ताहि गतिर्दुःखं, देहवद्भिरवाप्यते ।।''

-गीता

अथवा माता की यह प्रार्थना कि 'हमें भक्ति और ज्ञान दे' करके तुम (ब्रह्म की ओर) जा सकोगे ।

आत्म समर्पण और शुद्ध प्रेम इत्यादि, भक्ति के अनेक अंग हैं । पहले उनके (भक्ति के अंगों के नवधा भक्ति के) द्वारा मेरी माता (सगुण परमेश्वर) की ओर जाओ । मैं तुम्हें यह विश्वास दिलाता हूँ कि यदि

तुम्हारी प्रार्थना शुद्ध भाव की होगी तो मेरी माता उसे अवश्य सुनेगी , हाँ, तुम्हे धैर्य अवश्य रखना चाहिये । क्योंकि अपने लड़कों को - भक्तों को - उसने वैसा साक्षात्कार ही दिया है । अच्छा, यदि तुम उसके निर्गुण अंग का साक्षात्कार चाहते हो, तो भी उसे प्रसन्न करो । यदि उसने ध्यान दिया - यदि वह तुम पर कृपा करना चाहेगी (क्योंकि वह सर्व समर्थ है) तो तुम समाधि में उसके निर्गुण अंग का ही अनुभव कर सकोगे और यही अनुभव ब्रह्मज्ञान है । हाँ, मुझे यहाँ यह अवश्य बतला देना चाहिये कि जो भक्त है वह ईश्वर का-मेरी माता का अथवा श्रीकृष्ण, चैतन्यदेव इत्यादि उसके अवतारों में से किसी का अथवा उसके अनन्त दिव्य रूपों में से किसी रूप का - केवल दर्शन हो जाने से साधारणतया बिलकुल सन्तुष्ट रहता है ।

साधारण तौर से भक्त की कुछ यह इच्छा ही नहीं होती कि उसे निर्गुण का ही अनुभव हो । उसकी यह बहुत इच्छा रहती है कि समाधि में हमारा अहंकार सब प्रकार से लुप्त न हो । उसे इसी में सन्तोष रहता है कि हमारा अभिमान इतना बना रहे कि जिससे हम आनन्दपूर्वक अपनी उपास्य - मूर्ति के दर्शन सुख का अनुभव कर सकें । शक्कर से एकरूपता प्राप्त करने की अपेक्षा - शक्कर में मिल जाने की अपेक्षा - उससे अलग रहकर उसका मिठास लेना उसे ठीक जान पड़ता है । ऐसे भक्त को मेरी माता सगुण रूप से - साकार होकर दर्शन देती है, क्योंकि भक्तों पर-अपने बच्चों पर - उसका मन बहुत रहता है । देवता के रूप का जिसको पूर्णतया आकलन हो गया - देवता के प्रत्यक्ष दर्शन-सुख का जिसने अनुभव कर लिया है - उसे अपरोक्षानुभूति का हठ रखना ही चाहिये, क्योंकि परमार्थ में महत्व का विषय वही है । पहले ही से इस प्रकार के वाक्य कह डालने में

कोई अर्थ नहीं है कि - ''मैं ईश्वर का स्वरूप समझ गया - जो ब्रह्म भीतर-बाहर व्याप्त है, उसे मैने जान लिया । अहो ! मुझे दीख पड़ने वाली प्रत्येक वस्तु - पुरूष, स्त्री, पशु, पक्षी, वृक्ष, फूल, पाषाण सब कुछ ईश्वर रूप ही है । मैं केवल आनन्द की - सुख की मूर्ति हूँ । मैं सुख-दुःखातीत हूँ । सोऽहम् । सोऽहम् । इत्यादि''।

पहले साधन करना चाहिये । इसके सिवाय अन्य मार्ग ही नहीं है । उसके बिना सच्ची भक्ति प्राप्त नहीं हो सकती । जब तक साधन का सम्पादन नहीं हुआ तब तक हम चाहे जितना चिल्लाया करें तथापि ब्रह्मज्ञान की गंध भी नहीं मिल सकती । तब तक बोलना, चालना सब व्यर्थ है । क्योंकि वह ब्रह्मज्ञान की सम्पत्ति, सुरक्षित रीति से तहखाने में रखी हुई है और उसमें मजबूत ताला भी लगा हुआ है । उस तहखाने का ताला तुमने नहीं खोला । तुम मुख से (जब तक साधन नहीं किया) तब तक ये वचन नहीं निकाल सकते कि - ''मैंने वह ताला खोलकर तहखाने में पैर रखा । देखिये, उस सम्पत्ति पर मैंने हाथ चालाया । ये रत्न हीरे, माणिक कितने तेजस्वी है । ये देखिये, ये सब मेरे हाथ में आ गये''। जिस पुण्यात्मा को परमेश्वर की दिव्य मूर्ति का साक्षात् दर्शन हो जाता है, उसकी वृत्ति बालक के समान सरल और सादी बन जाती है । उसे यह जगत् कुछ निराले ही स्वरूप का भासने लगता है । इस जगत् की नाम रूपात्मक भिन्नता का भास उसे नहीं जान पड़ता । उसके आगे जो दिव्य रूप प्रगट होता है, उसे देखकर, भक्ति के मध्य से बहुधा उसका भान चला जाता है, इस कारण 'शुचि' और 'अशुचि' के सम्बन्ध की भेद बुद्धि उसमें नहीं रहती । अन्त में उसकी जागृति बीच-बीच में जाने लगती है और समाधि में जड़ के सदृश उसकी अवस्था होती है ।अपरोक्षानुभव प्राप्त होने तक

मनुष्य को शुद्ध रहना चाहिये और जगत् का - कामिनी और कंचन का - त्याग करना चाहिये ।

ये भाव है उस परमहंस के, जिनके एक शिष्य विवेकानन्द ने विदेशों में भारत का मुखोज्ज्वल किया । साकार और निराकार की बातें अनेक स्थलों पर दुहराई गईं केवल इसीलिये कि जिज्ञासु उन्हें समझें और हृदयंगम करें । पुस्तक का कलेवर बढ़ाने या किसी अन्य सन्त के लिये इतना स्थान देने की अनेक लोग आलोचना कर सकते हैं । हम उनकी आलोचना से कुण्ठित होने वाले नहीं । साथ ही साथ हमारा यह भी निवेदन है कि हम परमहंस की सभी बातों से सहमत नहीं । जिज्ञासु जानने की इच्छा रखता है कि अन्य सन्तों की इस विषय में कैसी धारणा है । अतः हमने उनके उपदेशों को उचित स्थान दिया तथा ऐसे स्थल पर हमने उनकी बातें रखीं जहाँ भक्त और ज्ञानी का कहाँ चलकर समन्वय हो सकता है आदि भावों की पूर्ति के लिये यह पूर्ण प्रसंग रखा गया ।

प्रभु कृपा के बिना न जीव को ज्ञान होता है और न भक्ति, यह बात निश्चित है किन्तु साकार और निराकार के विषय में कुछ बातें ऐसी हैं जहाँ हम भिन्न भाव रखते हैं । साकार की कृपा से ही निराकार की प्राप्ति होती है यह विचारणीय प्रश्न है । यहाँ हम समर्थ गुरु रामदास का उपदेश रखना चाहते हैं जहाँ वे कहते हैं कि भगवान का साकार रूप तो भक्त भावना से बनाता है । अवश्य ही ये विचार ज्ञानमार्गी के हैं । साकार के भक्त को प्रथम इष्ट की कल्पना करनी होगी तब अनेक साधना के पश्चात् उनके दर्शन होंगे । साकार से निराकार का एक मार्ग है । प्रथम आकार की कल्पना पश्चात् उस आकार को लोप कर निराकार में मन को लीन करना है ।

अवश्य ही समाधि चाहे सविकल्प हो या निर्विकल्प । उस अवस्था को प्राप्त करने के लिये केवल चेष्टा ही यथेष्ट नहीं है, चाहिये गुरू कृपा ।

साकार और निराकार में कैसे साकार की उपासना की जाये ? यहाँ तीव्र प्रेम की आवश्यकता है साकार के लिये यह निर्विवाद सिद्धान्त है । निराकार के अनुयायी अपने को ही उसका रूप समझते हैं । जब तक मन तथा शरीर की प्रधानता है तब तक न साकार की ही उपासना हो सकती है और न निराकार की ही । इस साकार और निराकार के विषय को सरलता से वही समझ सकता है जिसमें अहंकार न हो । भक्त और ज्ञानी रस्साकसी के खेल की तरह अपनी-अपनी ओर खींचते है । भक्त किसका है तथा ज्ञान किसका करना है, यदि इसे समझ लिया जाय तो फिर कर्ष ही कहाँ रहता है । समाधि का विषय केवल शब्द द्वारा कब सरल हुआ ? कुछ सन्तों का ऐसा भी कथन है कि निराकार के झंझट में न जाना ही ठीक है । निराकार के उपासना वाले अनेक दैनिक नित्य-नैमेत्तिक कर्म छोड़ बैठते हैं, जिनका परित्याग करना उचित नहीं । जब संसार के और सभी कार्य पूर्ववत् किये जाते हैं तो पूजा-पाठ आदि शुभ कर्म का ही क्यों परित्याग किया जाय ? जब तक ब्रह्म (साक्षात्कार) ज्ञान या भगवद् साक्षात्कार न हो तब तक इन कार्यों को छोड़ना उचित नहीं । अतः इन्हें करते ही रहना चाहिये । हाँ, फल की इच्छा न हो तो निष्काम भाव से किया जाये । किन्तु इनका परित्याग सर्वथा अनुचित है ।

न साकार की पूजा भक्त हो तुच्छ बनाती है और निराकार की उपासना ज्ञानी को महान् । एक शरीर के दो अंग, दो हाथ - कौन छोटा और कौन बड़ा । निज को जानना भगवान को जानना है तथा भगवान को

जानना निज को जानना है । मैं ब्रह्म हूँ ऐसा कहकर जैसा ज्ञानी आनन्द पाता है उससे किसी भी अंश में भक्त भगवान का बनकर कम आनन्द नहीं पाता । दोनों ही अपने-अपने स्थान पर उचित हैं । स्वतन्त्र भी और पूरक भी । जैसे भी हो आप अपने को समझने की चेष्टा करें। अपने भगवान को आत्म समर्पण करने की तैयारी करें ।

क्या करें ? यह प्रश्न सामयिक है । हमें यदि आनन्द के समुद्र में गोता लगाना हो तो विवेक, वैराग्य, भक्ति और श्रद्धा के इच्छुक बनें । केवल विषयों के खेल देखते रहें तो कब शान्ति प्राप्त होगी ? विषयानन्द की उपमा एक लेखक ने बड़े ही रोचक ढंग से दी है । उसका कहना है कि विषयानन्द दाद का खुजलाना है । दाद को खुजलाते समय ऐसा आनन्द आता है, मानों स्वर्ग कहीं आस-पास में है और फिर खुजलाते समय कैसी लज्जा ? खुजलाने के लिये हाथ व्याकुल हो जाते हैं, किन्तु उस खुजलाहट के पश्चात् जब चर्म में रगड़ के कारण जो कष्ट होने लगता है वह भी भुलाया नहीं जा सकता । वैसी ही अवस्था विषय आनन्द की है । यदि कोई दाद खुजलाने वाले से पूछे-भाई, यह क्या कर रहे हो, क्या इसके परिणाम की ओर उसका ध्यान नहीं ? पर वह पूछने वाले की बातों पर कब ध्यान देने लगा । ऐसे ही ये धर्म प्रवर्तक - गुरू आदि चेतावनी देते हैं, किन्तु यहाँ उनकी बातें सुनने और समझने के लिये अवकाश ही कहाँ है ?

वस्तु विशेष की प्रप्ति के लिये सर्वप्रथम पात्रता की आवश्यकता है । धर्मशास्त्र का कथन है - विद्या विनय देती है तथा विनय पात्रता का अधिकारी बनाती है । कौन सी विद्या का अध्ययन किया जाये, जो हमें विनयी तथा नम्र बनने में सहायक होगी, वहाँ स्पष्ट रूप से देववाणी ही वह

मार्ग दिखलाती है । भाषा अवश्य ही भवों को व्यक्त करने का साधन मात्र है फिर भी भाषा जिन मनुष्यों के द्वारा उच्चरित होती है उनके विचार और उनकी ध्वनि भी वह अपने साथ रखती है । वर्तमान काल में आंगल भाषा-भाषियों का व्यवहार विनम्र नहीं देखा गया । अतः इसके लिये किसे जिम्मेदार ठहराया जाये ? जो भी हो हम तो नम्रता के उपासक हैं - वह नम्रता हमें किसी भी भाषा से प्राप्त हो । नम्रता के पश्चात् पात्रता आती है । यदि पात्रता न आई तो न विद्या काम की और न विनय । एक शब्द विद्या के लिये भी कहना उचित होगा । 'सा विद्या या विमुक्तये' । विद्या तो हम उसी को कहेंगे जो हमें मुक्त होने में सहायता दे अन्यथा वह विद्या नहीं, वह तो अविद्या ही है, जिसके गर्भ में आज सभी भाषा-भाषी अचेतन या प्रगाढ़ निद्रा में पड़े हुए हैं । अर्थकरी विद्या हो या अनर्थकरी विद्या, जब तक जीव को अग्रसर होने में सहायक न बनें तब तक भाषा या विद्या के शाब्दिक जाल, इन्द्रजाल हैं ।

मनुष्य शब्द सुनते-सुनते, व्यवहार देखते-देखते ऐसा हो जाता है कि अपने आप को भूल बैठता है । व्यवहार और शब्द ही उसके परिचायक होते हैं । पात्रता का प्रश्न अभी हल नहीं हुआ । वहाँ हम पुनः बाबा बदलदेव के पुनीत शब्द स्मरण करते हैं जहाँ वे कहते हैं - भाई, मैं ठठेरा हूँ और आगत जिज्ञासुगण बर्तन खरीदरने वाले । फूटा बर्तन तो मैं इनका ले लेता हूँ और बदले में नवीन बर्तन देता हूँ । धनी, विद्धान आदि को देख यह समझना उचित नहीं कि इनके पात्र उचित हैं । ये तो फूटे बर्तन हैं जिनमें सार ग्रहण करने की शक्ति नहीं । इनमें दो शब्दों पर विशेष ध्यान दिया जाय तो अवशेष सभी बातें स्पष्ट हो जाती हैं । फूटे बर्तन और नवीन बर्तन । जिनमें सार ग्रहण करने की इच्छा न हो उन्हें फूटा बर्तन न कहा

जाय तो फिर क्या कहना उचित है ? नवीन बर्तन नये दृष्टिकोण को इंगित करता है । संसार के व्यवहार तथा व्यापार पूर्ववत रहते हैं किन्तु दर्शक की दृष्टि में नवीनता आ जाती है । जिसे हम सत्य समझते थे, कर्तव्य समझते थे आदि अनेक बातें जो हमने मान ली थी वस्तुतः वे न थीं और न हमें उन्हें ऐसा समझना था । ये बातें तो नवीन दृष्टिकोण ने ही दी । अतः दृष्टिकोण का परिवर्तन साधारण जीव का कार्य नहीं यह तो सद्गुरू की कृपा से ही होता है ।

चालू जीवन में परिवर्तन कब आता है ? जब हमें कोई समझता है और बार-बार कहता है - यह क्या कर रहे हो - यह तुम्हारा कर्तव्य नहीं । तो हम श्रवण मात्र से ही परिवर्तन के इच्छुक नहीं होते । हमारे संस्कार और हमारी विचारधारा मार्ग अवरोध करने लगती है । पुरानी पटिया पर लिखे हुए वाक्यों को क्या यों ही साफ किया जा सकता है ? सद्वाणी हमारी भ्रान्ति को दर्शाती है, हमें समझाती है कि यह मार्ग श्रेयस्कर है, यह नहीं, आदि बातें आती है किन्तु पात्र ही तो ग्रहण करेगा सार को ।

संस्कार और विचार यदि हमें पंगु बनाकर रखें, तो फिर हमारा कल्याण कैसे होगा ? क्या हम यों ही विचारों के झंझावात में वेदम हुए घूमते रहें ? ऐसे अवसर पर हमें नरेंन्द्र (विवेकानन्द) की बातें याद आती है । उस निर्भीक युवक ने परमहंस रामकृष्ण से कहा-उस माता (भगवान) का दर्शन करा देंगे आप ? परमहंस ने दृढ़ शब्दों में आवश्वासन देते हुए कहा - अवश्य । परमहंसजी ने पात्र देखा और दी उसे नवीन ज्योति । यह है पात्रता । नरेन्द्र, नरेन्द्र ही रहता, न स्वामी विवेकानन्द बन पाता और न धर्म का मर्म समझ पाता यदि उसे नवीन दृष्टिकोण न दिया जाता । नरेन्द्र के

लिये काली माता की मूर्ति अज्ञानी लोगों के दिल बहलाने की वस्तु या खिलौना मात्र थी, किन्तु जब परमहंस ने उसे साकार और निराकार का भेद समझाया तथा प्रत्यक्ष अनुभव कराया तो उसकी भ्रांति विलीन हुई । उसे अभिमान था अपनी विद्या, बुद्धि और अपने विचारों पर । उसने ब्रह्म समाज की धारणाओं को अपनाया था और मूर्ति पूजा को ''पुतुल खेला'' समझता था । अर्थात् जैसे बालक मिट्टी के बने हुए खिलौनों से खेलते रहते हैं । उसी प्रकार ये प्राचीन पथानुगामी इन देवी प्रतिमाओं को लेकर पूजा आदि करते हैं किन्तु है यह सब बच्चों का खेल, ये थे विचार उस युवक के । कैसे नरेन्द्र विवेकानन्द बना उस इतिहास को जानने की इच्छा रखने वाले स्वामी विवेकानन्द की जीवनी पढ़ें । हमारा मन्तव्य तो पात्रता को देने को था, वह स्पष्ट हुआ ।

पात्र के लिये भक्ति, योग और ज्ञान, तीन पथ है जिनमें भक्ति आनन्ददातृ है । वहाँ प्रश्न हो सकता है कि योग और ज्ञान आनन्ददायक नहीं ? नहीं-नहीं-आनन्ददायक तो तीनों ही हैं । किन्तु जैसे पंचीकरण के समय, जिसकी प्रधानता रहती है उसी को प्रधानता देते हुए उनके नामकरण किये जाते हैं, जैसे अन्नमय कोष, मनोमय कोष, प्राणमय कोष, आदि वैसे ही सत्व, रज और तम इन तीन गुणों में भी इसी नियम का पालन किया जाता है । भक्ति में आनन्द का प्रवाह आदि मध्य और अन्त में सर्वत्र है ।

हम भक्ति क्यों करें ? इसका उत्तर अति सरल है । यदि आप आनन्द सागर में विचरण करना चाहते हैं तो भक्ति पथ पर आइये । प्रश्न हो सकता है कि हम तो आनन्द में ही हैं - ऐसे हम कार्य व्यस्त हैं कि हम यह नहीं जान पाते कि सूर्य कब उदय हुआ तथा कब अस्त । तो ठीक है

यह भी आप भक्ति ही कर रहे हैं राम की नही, दाम की कर रहे हैं । धर्म की नहीं, अर्थ की कर रहे हैं । इसीलिये यदि विधाता ने मानव तन दिया है तो निरर्थक सा सिद्ध हो जाता है यह तन । प्रभात से संध्या तक पक्षी अपने बच्चों के पालन-पोषण के लिये अन्न जुटाने में व्यस्त रहते हैं । आप तो उनसे भी बढ़कर हैं, क्योंकि आप रात्रि के भी भाग को उसी काम में बिताते हैं तथा निद्रा में भी उसी का स्वप्न देखते हैं । आपके लिये यदि निद्रा न होती, तो काम करने का समय और बढ़ जाता । किन्तु जरा सोचिये तो कि ये भाव आपने क्यों धारण कर रखे हैं ? व्यग्रता और व्यस्तता की भक्ति आपको व्यग्र बनायेगी और राम की भक्ति आपके हृदय में रमण करेगी - आनन्द का रमण करेगी । मन को शान्ति जल पिलायेगी - इस तृष्णारूपी प्यास को जब तक शान्ति जल (भक्ति रूप) न प्राप्त होगा, कभी शान्त न होगी । चित्त की चंचलता से व्यग्रता बढ़ेगी और आनन्द कोसों दूर भागेगा । आप तृषित मृग के सदृश छटपटाते रहेंगे । किन्तु प्यास न बुझेगी, न बुझेगी ।

भक्त है कौन ? भक्ति का उपासक । फिर भक्ति क्या होगी ? क्यों इसकी आवश्यकता प्रतीत हुई ? उत्तर में शायद यह कहा जाय कि - प्रारम्भिक काल में जब मनुष्य बिजली चमकती हुई देखता, अन्धड़ चलते हुए देखता, भूकम्प आदि भयप्रद दृश्य देखता तो वह उनका रहस्य न समझ पाता । अतः उसने प्रत्यक्ष सूर्य, चन्द्र, वरूण, पृथ्वी आदि देवों की पूजा प्रारम्भ की । लोग कह सकते हैं कि यहीं से इस भक्ति का या ''डरता हर हर करता'' का इतिहास है । प्रश्न हो सकता है कि भयभीत होकर जीव भक्त बनता है तो यह तो कोई सुन्दर आदर्श नहीं । फिर इसमें प्रेम कहाँ ? वहाँ फिर तुलसी महाराज आकर कहते हैं - 'भय बिन होत न

प्रीति' । तो प्रीति के लिये, भक्ति के लिये भय की आवश्यकता प्रतीत हुई । नहीं, नहीं, इन बातों से सन्तोष नहीं होता । भक्त तो प्रेम का भूखा होता है और वह प्रेम, शुद्ध प्रेम प्राप्त होता है उसे अपने भगवान से ।

अपने से अधिक शक्ति सम्पन्न के लिये विश्वास, श्रद्धा और भक्ति के भाव उत्पन्न होते हुए देखे जाते हैं । मनुष्य ने ज्यों -ज्यों अनुभव को अपनाया त्यों-त्यों वह जान पाया कि कोई ऐसी शक्ति है जो सूर्य, चन्द्र, वरूण आदि से भी सर्व शक्तिमान् है । देखते-देखते उसे विश्वास हुआ विश्वास ने ही आगे बढ़ कर श्रद्धा का रूप धारण किया और श्रद्धा ने भक्ति को अपनाया ।

प्रायः सभी धर्मों में एक आवाज बड़ी तीव्र सुनाई पड़ती है । ईमान लाओ - विश्वास करो । जिन धर्मों में ईश्वर के लिये स्थान नहीं, वे भी सिद्धों पर ईमान लाओ की आवाज लगाते नजर आते हैं । क्यों ? ऐसा क्यों ? मनुष्य तो अपने को 'बहुत कुछ' समझता है । फिर यह विश्वास लाओ कि आवाज क्यों उठी ? मनुष्य जब भी चक्कर में पड़ता है तो ''बिसर जात सब बुद्धि'' की अवस्था हो जाती है । वहाँ उसे आवश्यकता प्रतीत होती है अपने से अधिक बली की । तब नतमस्तक होता है, गिड़गिड़ाता है । वे लोग जो अनीश्वरवादी - नास्तिक कहने में गौरव अनुभव करते हैं वे भी मृत्यु की विभीषिका देखकर काँप उठते हैं और कहते पाये जाते हैं यदि कोई ईश्वर है तो मेरी रक्षा करे । क्यों भाई, इन कायरता के शब्दों का प्रयोग क्यों ? तुमने तो कभी भक्ति न चाही, ईश्वर के नाम पर सिर भी न झुकाया । अब ऐसी बातें क्यों कहते हो ? ऐसी अवस्था में शायद उनके मत के समर्थक कहें - ये व्याकुलता में कहे हुए

शब्द हैं, अज्ञान अवस्था के शब्द हैं । इनका अर्थ यह न लिया जाये कि उसने ईश्वर के ईश्वरत्व को स्वीकार कर लिया । तर्क के लिये चाहे जो कुछ भी क्यों न कहा जाय, किन्तु वस्तु स्थिति कुछ ऐसी ही है ।

भक्त और भगवान को मिटाने वाले भी पैदा हुए और अपना कलंकी इतिहास छोड़ गये । ऐसे भी अनेक हुए, जिन्होंने भक्ति गंगा में गोता लगाया और भविष्य के लोगों के लिये भी आदर्श छोड़ गये । आत्म तृप्ति के लिये, आत्म सन्तोष के लिये आत्म निर्भरता के लिये, भक्ति की अभिलाषा जीव के हृदय में उत्पन्न हुई । एक भक्त की प्रार्थना सुनिये, कैसे सुन्दर उद्‌गार है - ''माता ! मैं शरणागत हूँ । भक्तों के हृदय में जिन बातों के उत्पन्न होने से भक्ति दूर होती है, माता ! उन-उन बातों से मुझे दूर रख । माता मुझे देह सुख की इच्छा नहीं है । लोकमान्यता मुझे नहीं चाहिये । अष्ट सिद्धियों की मुझ आवश्यकता नहीं । मेरी प्रार्थना, माता ! इतनी ही है केवल, कि आपके कमल स्वरूपी चरणों में मेरी शुद्ध, निष्काम, निर्मल, अहैतुक और आन्तरिक भक्ति हो । उसी तरह माता ! तेरी जगन्मोहिनी माया से मुग्ध होकर, यह तेरा बालक तुझे भूलने न पावे । तू अपनी अद्‌भुत माया से जो संसार का कामिनी और कांचन का - मोहक जाल मनुष्य के चारों ओर फैला दिया है, उसमें यह (बालक) फँसकर तुझको भूलने न पावे । मोह के वश में होकर मेरा मन माता ! उसमें (कांचन और कामिनी में) न फँसने पावे, ऐसा कर । इस संसार में तेरे बिना माता ! मेरा ऐसा कोई नहीं है, जो मेरी रक्षा करे तू यह आप देखती ही है । तेरे नाम का कीर्तन किस तरह करूँ, माता ! यही मेरी समझ में नहीं आता । माता ! मैं साधन हीन, ज्ञान हीन, भक्ति हीन हूँ । इसलिये कृपा करके माता ! अपने चरण कमल में मेरी अभिन्न भक्ति कर दें''। ये हैं

मार्मिक वाक्यावली उस शुद्ध भक्त की, जिसमें भगवान ने निराकार और साकार भक्ति का अपूर्व सम्मिश्रण किया था ।

भक्त का अस्तित्व भगवान ही के सम्पर्क में है । वह कभी दास बनता है, तो कभी सखा । जो कुछ भी बने - किन्तु बने उसका (भगवान का), जिसके प्रेम के अभाव में सम्पूर्ण विश्व निरानन्द है । प्रेम के स्त्रोत को न जान, यदि कुत्ते की तरह हड्डी चबाने लगे तथा उसमें भी मांस का मजा खोजे, तो उस कुत्ते की दुरवस्था अवश्यम्भावी है । अपने ही दाँतों का रक्त है ऐसा वह कब समझता है ? ऐसी ही अवस्था सांसारिक जीवों की है, जिन्होंने इस दृश्यमान जगत को ही सत्य मान, परमार्थ से मुँह मोड़ रखा है ।

सत्य असत्य का प्रश्न अवश्य जटिल है । किन्तु यहाँ उसकी व्याख्या न कर यह कहना आवश्यकता हो जाता है कि यदि आप जीवन का आनन्द लेना चाहते हैं तो भक्ति करें, दाम की नहीं राम की ।

भक्त को भगवान कैसे अपनाते हैं ? कैसे अपने रूप में उसे मिलाकर एकाकार कर लेते हैं यहाँ फिर बाबा की वाणी हमारी सहायक होती है । बाबा कहते हैं - यदि दम्पत्ति को पुत्र न हुआ तो वे उस अभाव की पूर्ति दत्तक पुत्र से करते हैं । माता-पिता दत्तक पुत्र को प्यार कर अपनी कामना का रूप उसमें देखते हैं और वह पुत्र भी उन्हें माता-पिता मानता हुआ सम्बोधन करता है तथा आदर भाव रखता है । यों माता-पिता मानता हुआ सम्बोधन करता है तथा आदर भाव रखता है । यों माता-पिता और पुत्र का भाव परस्पर सुखदायक हो जाता है । उसी प्रकार खुद

भी भगवान का बन जाय । भगवान में भक्ति भाव होने से भक्त में भगवान का भाव हो जायेगा । ऐसी ही भक्ति की भावना आनन्ददायक है । दोनों के भाव का मिलन-सुख उत्पन्न करता है । भक्ति और विश्वास मनुष्य के लिये अत्यन्त आवश्यक है । बाबा कहते हैं - ज्ञान और त्याग की अनुभूति के पश्चात् भी जीवन यात्रा गतिशील ही रहती है किन्तु भक्ति और विश्वास के अभाव में ज्ञान और त्याग रूखी रोटी के समान है । उस रूखी रोटी पर यदि भक्ति और विश्वास रूपी घी लगा दिया जाय तो वह खाद्य चौगुना सुस्वादु हो जाता है । बुद्धि के भार को हल्का करने के लिये भक्ति और विश्वास साधन है । इन दोनों की अनुपस्थिति में जीवन-यात्रा के भार को वहन करने में बुद्धि थक जाती है । अतः अपने भार को श्री भगवान के चरणें में अर्पित करना ही भक्ति की भावना है । सगुण भक्ति के विषय में आप कहते हैं - सगुण भक्ति के लिये आराध्य देव की आवश्यकता है । उनके चरणों में अपना सम्पूर्ण भार श्रद्धा, भक्ति सहित अर्पण कर उनकी आराधना ही में आनन्द बोध करना सगुण भक्ति है ।

भक्त और भगवान का सम्बन्ध पिता-पुत्र का सम्बन्ध है, इसे तो अनेकों ने कहा है । एक स्थान पर कबीर अपने अपराधों के लिये क्षमा याचना करते हुए साथ ही साथ अपना सम्बन्ध भी अति निकट का रखते हैं । हम सभी जानते हैं कि संस्कृत भाषा में पुत्र को 'आत्मज' कहा है । परमपिता की आत्मा से हमारी उत्पत्ति है, हम उनके आत्मज नहीं हैं, तो क्या हैं ? कबीर कहते हैं ।

''अवगुण मेरे बापजी, बकसो गरीब निवाज ।
जो मैं पुत कपूत हूँ, तऊ पिता को लाज ''।।

पिता को लजाने वाले पुत्र, पुत्र कहलाने का अधिकारी नहीं । पुत्र तो वह है जो आत्मज संज्ञा का पूर्ण अर्थ प्रकट करे । कैसे ? जिस आत्मा से उत्पन्न हुआ, उसी में लीन हो जाय - उसी का हो जाय - उसी का भक्त हो जाय ।

प्रश्न हो सकता है कि जीव अपने को पुत्र कहकर सम्बोधित करना चाहे तो कर सकता है । किन्तु भगवान कैसे उसे अपना लेंगे ? तो क्या संतों की वाणी इसका प्रमाण नहीं दे रही है - अनुभव के आधार पर क्या वे नहीं कह रहे हैं कि तुम उसे भजो, वह भी तुमको भजेगा ? केवल भजेगा ही नहीं - तुम्हारे इशारे पर नाचेगा । खरीद लो उसे । आज वह बड़े सस्ते दामें में बिक रहा है । केवल उसे चाहो, उसे मानों, उसे भजो - देखो कैसा तुम्हारा ज़रखरीद गुलाम बन जाता है वह । उसने कब किसको धोखा दिया ? कभी नहीं । पुकारने वाले को वह भी पुकारता है । उसे देखकर प्रसन्न होने वाले को पाकर वह भी उसके हाथों बिक जाता है । बाबा बलदेव ने तो दो कदम और भी आगे बढ़ाये हैं, क्या ही सुन्दर कहा है - भगवान में भक्ति भाव होने से भक्त में भगवान का भाव हो जायेगा । क्या कहा - भक्त भगवान हो जायेगा ? ये तो बुद्धि को प्रधानता देने वाले मोल जोख करते हैं, भक्त ने तो अपने हृदय को उस तालाब के सदृश्य बना रखा है जिस पर मूर्ति की प्रतिमूर्ति भी वैसी ही रचित होती है ।

''दिल के आइने में है तस्वीरे यार ।
जब चाहा गर्दन झुकाई देख ली ''।।

यहाँ न झुकाना है न कुछ झुकना । बिम्ब-प्रतिबिम्ब, मूर्ति-प्रतिमूर्ति एक के अनेक । अनेक में एक । भक्त में भगवान और भगवान में ? उनमें तो भक्ति भाव होने से भगवान का भाव हो जायेगा ।

एक बार एक जिज्ञासु ने कहा - कहीं पुत्र भी पिता होता है । पुत्र तो पुत्र ही रहेगा । कहना था उसका कि कहीं भक्त भी भगवान होता है ? भक्त तो भक्त ही रहेगा । भक्त और भगवान की झाँकी एक है, वहाँ कौन बड़ा और कौन छोटा का प्रश्न ही नहीं उठता । उम्र का वहाँ हिसाब नहीं । पाँच वर्ष का ध्रुव, प्रह्लाद उसे अपना लेते हैं और हजारों वर्ष तप करने वाले केवल तपते ही रह जाते हैं । जिसके दिल में जिसे पाने की तड़पन रहती है वह कभी बुद्धि, समझ की बात सुनता है ? वह तो नाम स्मरण कर अपने को भूल बैठता - अपने प्यारे के मिलन के लिये व्याकुल हो जाता है । जाति-धर्म-कर्म, स्त्री-पुरूष आदि के भेद तो यहीं रह जाते हैं - मिलन, केवल मिलन - सर्वांगीण भाव का मिलन ही उस व्याकुल हृदय की औषधि है । समझ बेचारी हार जाती है । हृदय की पुकार - उस सात आसमान पर बैठने वाल को दौड़ा देती है । कहाँ गज, कहाँ भगवान - कहाँ द्रोपदी, कहाँ भगवान श्रीकृष्ण - दूरी और समीपता का वहाँ प्रश्न कहाँ ? वहाँ तो केवल पुकार, सच्चे दिल की पुकार, जन्म-जन्मान्तर की कालिमा को धो डालती है ।

यह कलियुग है, यह द्वापर है, यह त्रेता है, यह सतयुग है इसकी ओर ध्यान नहीं है । सभी युग सतयुग हैं जब उस प्यारे को स्मरण किया जाये । उसकी याद में कैसी-कैसी आफतें झेली थीं उन गोपियों ने जिनका कुछ हाल सूरदास ने भ्रमर गीत में वर्णन किया है । यह तो वर्णन ही है,

किन्तु जिसके दिल पर गुज़रती है, वही जानता है कि प्यार और भक्ति क्या है ? पार्थिव प्रेम का पुजारी तो सम्पूर्ण संसार है । हाड़ मांस का चाहने वाला तो आज विश्व है, किन्तु कुछ ऊपर उठकर दिव्य प्रेम का इच्छुक जीव बने तो यह कामना, वासना गन्दले जल की काई के रूप में रह जाती है । जहाँ दो आत्मा का मिलन, आत्मा परमात्मा का मिलन होता है - वहाँ विश्व मुग्ध हो जाता है, भक्त और भगवान पर पुष्पों की वृष्टि करता है ।

देखिये न, चैतन्य महाप्रभु को जो वन को देखते ही अपने को भूल जाते हैं । वृन्दावन ही उसे समझ कर विलाप करने लगते थे, पुकारने लगते थे, उस वृन्दावन-विपिन बिहारी को । क्या आज चैतन्य देव पर लोग फूल नहीं बरसा रहे हैं ? डुबकी लगाने वाला ही तह तक जाने का अधिकारी बनता है । अपने अहं को लय करने वाला ही भगवानमय हो जाता है । वहाँ फिर यह कहने पूछने का स्थान ही नहीं रहता कि पुत्र कैसे पिता बन जाता है । ये तो प्रश्न हैं - जिन्हें करने वाला सदा कोरे पत्र की तरह ही रह जाता है । उनका कथन और प्रश्न उन्हीं तक रह जाता है ।

भक्ति में यदि आनन्द न होता तो लोग आज अर्थ की भक्ति क्यों कर रहे हैं ? क्यों इस हाड़-चाम के पीछे पागल हुए घूम रहे हैं ? यह तो देशी शराब है, जिसमें प्रलाप के लिये ही स्थान अधिक है, प्रेम मदिरा नहीं, जिसे पीने वाला मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार तक को भूल जाता है । जो भक्त है वही भगवान का है । अभी वह भगवान का है समय आ रहा है, जब वह भगवान ही हो जायेगा । केवल मात्रा का भेद है । अभी बर्फ के रूप में है, स्थूल दिखलाई दे रहा है - वह समय भी दूर नहीं, जब वह

बाष्प के रूप में परिवर्तित होगा । दुनिया तब यही कहने को बाध्य होगी, भक्त और भगवान एक ।

भक्ति क्या यों ही लोग करते हैं ?जब उन्हें कुछ आनन्द आता है तो भजते हैं । नहीं तो कौन किसकी सुनता है ? उपदेशक चिल्लाता रहे - श्रोता को यदि उसकी बातों में आनन्द न आये तो उसकी बातें उसी तक सीमित रहेंगी । किन्तु एक बार जरा रस मिला तो श्रोता, उपदेशक का अनुगामी बन जायेगा । एक बार किसी तर्क प्रेमी ने स्वामी रामतीर्थ से कहा - स्वामीजी, कृष्ण की बाँसुरी में ऐसा क्या जादू था, जो गोपियाँ व्याकुल हुईं घूमती थी । स्वामीजी ने तत्काल उसका उत्तर देना उचित न समझा । कुछ दिनों के पश्चात् उनका (उपदेश) भाषण हो रहा था । भाषण इतना रोचक हो चला था कि श्रोता मन्त्र मुग्ध की अवस्था में थे । स्वामीजी ने भाषण को अधूरा ही छोड़ प्रस्थान किया अन्य स्थान को । श्रोता अब उनके अनुगामी थे । चले जा रहे थे । वे उस अधूरे भाषण को अधूरा ही छोड़ने के लिये किसी तरह तैयार न थे । स्वामीजी मील भर चलकर एक तालाब के समीप पहुँचे । जनता अब भी पीछे-पीछे चली आ रही थी । स्वामीजी ने कुछ समय पश्चात् कहा - कुछ दिन पूर्व आप में से किसी को भगवान श्रीकृष्ण की बाँसुरी की मोहकता पर सन्देह था । आज आपने प्रत्यक्ष देख न लिया कि केवल शुष्क बातों को सुनने के लिये आप मील भर पैदल ही चले आये । क्या अब भी समझाना होगा कि भगवान श्रीकृष्ण की बाँसुरी में कौन सा जादू था ? तो ऐसी बातें है भक्त और भगवान की, जहाँ तर्क की गुञ्जाइश नहीं । इसीलिये तो एक वैष्णव भक्त ने कहा है - तर्क से भगवान श्रीकृष्ण बहुत दूर है । यदि तर्क से ही भगवान की पावन भक्ति प्राप्त होती तो बड़ा ही आसान काम होता । किन्तु होता

कहाँ है ? तर्क -निरा तर्क बेचारे प्रलाप करने वाले की, वहाँ पहुँच कहाँ ? वहाँ तो ''ढाई अक्षर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय''। सो पंडित नहीं होना है, उसी का होना है । पिता का पुत्र होना । आत्मज होकर आत्मा में प्रवेश करना है । किन्तु होना न होना सब उसी की कृपा का खेल है । उसकी कृपा कटाक्ष के सभी भिखारी हैं । ज्ञानियों का ज्ञान वहाँ बह जाता है । अपने को अहंकार के आसन पर आरूढ़ करने वाले वहाँ दरवाजे तक फटकने नहीं पाते । फिर प्रवेश तो बहुत दूर की बात है । सीधी बात है, पुत्र बनो, पिता वही बनायेगा । नहीं तो रक्षा कहाँ ? हाड़-चाम का चक्कर और लगाओ । तुलसीदास के काम के साथी बनो किन्तु जहाँ होश में आओगे, तो देख पाओगे कि बातें सभी ठीक कही गई थीं । तुम्हीं ने अभिमान में आ, एक न सुनी ।

बाबा तो यहाँ तक कहते हैं कि ज्ञान और त्याग भी रूखी रोटी है । रूखी रोटी खाना कौन पसन्द करेगा ? चिकनी चुपड़ी का यदि डौल हो तो कौन रूखी से सिर फोड़ेगा । ज्ञान और त्याग रूखे हैं, यदि भक्ति और विश्वास का घी उस पर न लगाया जाये । ज्ञान जानकारी देगा किन्तु वह रस, वह प्यार, वह आनन्द, वह घी, वह कहाँ प्राप्त होगा ? वहाँ फिर भक्ति की शरण में आना ही होगा । जानकारी और त्याग के बल पर विराट रूपधारी को अपनाओगे तो सूखा सौदा रहेगा । हृदय को हुलसित करने वाली अंग-अंग में प्रेम की पुलक पैदा करने वाली तो यह भक्ति ही है । किस-किस का नाम लेकर उदाहरण देकर समझाया जाय कि अमुक ने भक्ति की और यह आनन्द उठाया । गुड़ जब तक चख न लो, प्रशंसक थक जायेगा, केवल प्रशंसा तुम्हें आनन्द न दे सकेगी । फिर कहीं भूल से भी एक कण गुड़ का तुम्हारे मुख में पड़ा कि गूँगे का गुड़ बना । इसलिये बार-

बार यही कहा जा रहा है कि गुड़ की गोदाम के पास भी बैठकर यदि तुमने गुड़ न चखा तो तुमने क्या किया ? कहोगे नहीं कि हीरा सा जीवन व्यर्थ ही गँवाया - फिर 'सिर धुन-धुन पछितायो' वाली अवस्था न हो जायेगी ।

अब भी समय है सोचो - सन्तों की वाणी को सुन उसे हृदयंगम करो । इस बरसते हुए जल से लगे हुए शरीर के मैल को धो डालो । भीतरी शुद्धि का समय भी आ जायेगा । सुना नहीं तुमने ज्ञान और त्याग के पश्चात् भी भक्ति और विश्वास चाहिये । रोटी के पश्चात् जरा चिकना तो लो । क्या यों ही ''रूखी रोटी खाय के ठंडा पानी पी'' वाली कहावत को पूरी करना चाहते हो ? नहीं, नहीं जी, खूब घी लगाओ, खूब आनन्द लो । जिन लोगों ने लिया है उनके अनुभव से लाभ उठाओ ।

कुछ लोग भक्ति को, सगुण भक्ति को बच्चों का खेल कहकर पाण्डित्य प्रदर्शन करते हैं किन्तु वे भोले हैं । भक्तों से कभी भेंट न कर पाये - नहीं तो प्रत्यक्ष हो जाता कि मूर्तियाँ - मिट्टी की मूर्तियाँ -प्रतिमा नहीं, सजीव हँसती, बातचीत करने वाली प्रतीक है । एक बार परमहंस रामकृष्ण ने केशवचन्द्र सेन से कहा - केशव आज मेरी माता बहुत थक गई है, जरा उनकी पदसेवा तो कर आओ । ब्रह्म समाज का प्रमुख व्यक्ति क्या जानता था कि मृण्मयी प्रतिमा भी सजीव प्राणी के समान है । स्पर्श करते ही उन्होंने ऐसा अनुभव किया मानों किसी कोमलांगी के चरण स्पर्श किये हों । कैसा आश्चर्य था ? ऐसे एक नहीं, अनेकों घटित उदाहरण दिये जा सकते हैं किन्तु हम क्यों आपको बार-बार ऐसी बातों का विश्वास करने को कहें । आप यदि संसार की भक्ति से ऊब गये हों - नीरस हो गये हौं तो इधर आइये । इस प्रेम में अन्तर है । वह मोह जिसे आप प्रेम ही कहते हैं

अपूर्ण था, स्वार्थमय था, यह प्रेम अलौकिक है । यहाँ वियोग का भय नहीं । एक बार शुद्ध अन्तःकरण से कहा - ''मैं तेरा हूँ मैं तेरा'' कि उसने आपके प्रेम को अमर बनाया । यह वह स्निग्धता है जो एक बार हृदय को स्पर्श कर जाय तो स्निग्धता युग-युगान्तर दूर न हो । प्राणी एक जीवन के खेल देख, आगे ही बढ़ेगा, पीछे हटने का काम नहीं । ज्यों-ज्यों ''सूरदास की काली कमरिया'' हृदय बना कि वहाँ भुलाने के लिये स्थान नहीं ।

मीरा कहती हैं -

''म्हारा जन्म-मरण को साथी, थाने नहीं बिसरूँ दिन राती ।
तुम देख्यां बिन कल न परत है, जानत मेरी छाती ।।
ऊँची चढ़-चढ़ पन्थ निहारूँ, रोय-रोय अँखिया राती ।

अन्तिम पंक्ति में कहती हैं -

मीरा के प्रभु गिरधर नागर, हरिचरणा चित राती ।
पल-पल तेरा रूप निहारूँ, निरख-निरख सुख पाती ।।''

यह है सच्ची लगन जो व्याकुलता का कारण बनती है । संसार के लिये कहा है - ''यो संसार चहर की बाजी, साँझ पड्या उठि जासी ।'' किन्तु प्रेम, भगवद् प्रेम सदा अमर, अनन्त रहेगा । यह त्रिकालातीत है । यदि लहर जल से अलग हो तो भक्त भगवान से विमुख हो । वह तो ''चाकर राखोजी'' की पुकार करता रहेगा । अपना 'निजत्व' शब्द उसके प्रयोग में आने वाला शब्द नहीं । वह तो शक्कर का चखने वाला बन उसका आनन्द लेता रहेगा । स्वयं शक्कर बनने की इच्छा न रखेगा । वह संसार उसके लिये निरर्थक है जिसमें इसके प्यारे के लिये स्थान न हो ।

जैसे शरीर से उसकी छाया का पार्थक्य असम्भव है वैसे ही भक्त के हृदय से भगवान का चिन्तन ।

उसे भजना उसका होना है । भक्त कब अपनी नयी दुनिया बसाता है । वह तो एक ही बात कहता है - ''राजी है हम उसी में जिसमें तेरी रजा है ।'' अस्तु, भक्त और भगवान का सम्बन्ध वर्णन करने का विषय थोड़े ही है - यह तो पिता पुत्र का सम्बन्ध है । क्या कोई ऐसा पुत्र है जो अपने पिता का नाम गौरव के साथ न लेता हो ? फिर तुम्हीं अपने परम पिता को क्यों भुला रहे हो ? भावना का भूखा भगवान सदा भक्त का रहा और सदा रहेगा । भक्त बनो, चुपड़ी खाओ और आनन्द मनाओ ।

जिज्ञासु के लिये दूसरा मार्ग योग का है । योग क्या है ? आत्मा और परमात्मा के मिलन का साधन । तो क्या भक्ति साधन नहीं ? है क्यों नहीं ? किन्तु मार्ग भिन्न है । साधक की प्रकृति अनुगत जो मार्ग हो उसी में वह तीव्र गतिशील हो सकेगा । यहाँ सफलता ही सफलता है, विफलता नहीं । यह है घी का लड्डू । कहावत भी है ''घी का लड्डू टेढ़ा भी भला'' । योग के विषय में लिखने के समय प्राचीन परिपाटी का कुछ दिग्दर्शन कराना आवश्यक है । यहाँ प्रथम राजयोग के विषय में कुछ मुख्य बातें कही जा रही हैं । यों तो जिज्ञासु को ''राजयोग'' की स्वतन्त्र पुस्तक का अध्ययन करना चाहिये ।

राजयोग मनुष्य को अपने मन के निरीक्षण करने का उपाय सिखलाता है । मनुष्यों ने मन की एकाग्रता की शक्ति के प्रयोग से ही जगत् का सब ज्ञान प्राप्त किया है । प्रकृति के द्वार पर धक्का देने और खटखटाने

की विधि और उपाय जानने से वह अपने रहस्यों के द्वार को खोल देती है, किन्तु धक्का देने और खटखटाने की शक्ति एकाग्रता से आती है । मनुष्य की मानसिक शक्ति की कोई सीमा नहीं है । वह एकाग्रता और अभ्यास द्वारा जितनी अधिक परिमार्जित की जायगी उसका उतना ही अधिक विकास होगा । मन को वाह्य विषयों में स्थिर करना सहज है क्योंकि मन स्वभावतः बहिर्मुखी है । किन्तु मनोविज्ञान विषय में ऐसा नहीं है, यहाँ ज्ञाता और ज्ञेय एक ही है अर्थात् मन ही जानने वाला है और मन ही जानने की वस्तु है । मन के सम्बन्ध में अनुसन्धान किया जाता है और मन ही अनुसन्धान करने वाला है । यह सब जानते हैं कि मन के अन्दर एक ऐसी भी शक्ति है जो उसके समस्त कार्यों को एकत्रित कर उन सब का मन पर प्रयोग करती है । जैसे सूर्य की तीक्ष्ण रश्मियों के एकत्र हो जाने से घोर अन्धकारमय स्थान प्रकाशित हो जाता है । वैसे ही एकाग्र मन अपनी बिखरी हुई सारी शक्तियों को एकत्रित करके अपने अन्तरतम रहस्यों को प्रकाशित कर देता है और तब मनुष्य को विश्वास का वास्तविक आधार मिल जाता है उसी समय उसे सत्य ज्ञान की प्राप्ति होती है । उसी समय उसे मालूम होता है कि आत्मा और ईश्वर है या नहीं । तब उसे ज्ञात होता है कि हमारा जीवन शान्त है या अशान्त । राजयोग से मनुष्यों को इन्हीं सब बातों की शिक्षा मिलती है । इसका पहला उद्देश्य मन को एकाग्र करना है । इसके बाद मन के भिन्न - भिन्न कार्यों पर अधिकार प्राप्त करके सामान्य सत्यों और सिध्दान्तों का आविष्कार करना है ।

राजयोगी के मत में समस्त वाह्य जगत् सूक्ष्म जगत् की स्थूल अवस्था है। सब जगह सूक्ष्म को कारण और स्थूल को कार्य समझना होगा। इस नियम से वाह्य-जगत कार्य और अन्तर जगत कारण है।

अब सांख्य - दर्शन पर कुछ कहना ठीक होगा, क्योंकि सांख्य - दर्शन पर राजयोग विद्या स्थापित है। सांख्य दर्शन के मत में किसी विषय का ज्ञान इस क्रम से होता है - प्रथमत: विषय के साथ चक्षु आदि वाह्य यन्त्रों का संयोग होता है। इनके द्वारा इन्द्रियों (Brain Centres) पर असर पड़ता है, फिर इन्द्रियों का मन पर, तत्पश्चात् निश्चयात्मिका बुद्धि होती है फिर पुरुष या आत्मा उसे ग्रहण करता है। इसी प्रकार समस्त विषयों का ज्ञान होता है। पुरुष को छोड़कर सब कुछ जड़ है। मन चक्षु आदि वाह्य यन्त्रों की अपेक्षा सूक्ष्मतर पदार्थों से निर्मित है। मन जिस उपादान से बना है उसके क्रमशः स्थूलतर होने से तन्मात्र की उत्पत्ति होती है । यह है सांख्य का मनोविज्ञान ।

अतएव बुद्धि और स्थूलभूतों के बीच में केवल मात्रा का भेद है । एकमात्र पुरुष ही चेतन है । आत्मा के पास मन एक यन्त्र-विशेष है, इसके द्वारा आत्मा वाह्य विषयों को ग्रहण करती है । मन परिवर्तनशील है, सदा इधर-उधर जाता है, कभी सब इन्द्रियों में संलग्न रहता है और कभी एक में और कभी किसी में भी नहीं ।

राजयोग के आठ अंग है । (१) यम अर्थात अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह, (२) नियम अर्थात् शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर-प्रणिधाम, (३) आसन, (४) प्राणायाम, (५) प्रत्याहार,(६) धारणा, (७) ध्यान, (८) समाधि । इनमें से यम और नियम चरित्र गठन के लिये है । इनके बिना किसी योग की सिद्धि नहीं हो सकती । योगी को अधिक विलास और कठोरता दोनों ही का त्याग करना होता है । उपवास द्वारा शरीर को कष्ट देना उचित नहीं । गीता में लिखा है

कि जो अपने को वृथा क्लेश देता है, वह कभी योगी नहीं हो सकता । उपवासशील, अधिक जागरणशील, अधिक निद्रालु या निष्कर्मा इनमें से कोई योगी नहीं हो सकता , योगियों के मन में मेरुदण्ड के भीतर इड़ा और पिंगला नाम के दो स्नायवीय शक्ति-प्रवाह (Nerve Currents) है और मेरुदण्ड की मज्जा के भीतर सुषुम्ना नाम की एक खाली नली है । इस खाली नली के निम्न भाग में कुण्डलिनी के आधार-भूत पद्म अवस्थित है । योगी का कथन है कि वह त्रिकोणाकार है और उस स्थान में कुण्डलिनी शक्ति कुण्डलाकृति होकर विराजमान है । योगियों ने इस सांकेतिक भाषा में उसका वर्णन किया है । जब यह कुण्डलिनी जगती है, तब उस खाली नली के भीतर जोर से उठने की कोशिश करती है और जिस कदर वह चढ़ती जाती है, उसी कदर मन के विविध स्वर विकसित होते जाते हैं । तब योगी को नाना प्रकार के आश्चर्यमय दृश्य दिखाई देते हैं और उसे नाना प्रकार की अद्‌भुत क्षमता प्राप्त होती है । जब कुण्डलिनी मस्तिष्क में आ जाती है, तब योगी सम्पूर्णतः शरीर और मन से पृथक हो जाता है और उसकी आत्मा मुक्त हो जाती है ।

मेरुमज्जा एक विशेष प्रकार से बनी है । अंग्रेजी आठ अंक (८) को अगर इस प्रकार से लम्बा किया जाय, तो दिखाई पड़ेगा कि उसके दो अंश हैं और ये अंश बीच में मिले हुए है । लम्बे अंशों को बराबर जोड़ने से उनकी शक्ल मेरुमज्जा की शक्ल सी हो जाती है । इसकी बायीं ओर इड़ा, दाहिनी ओर पिंगला और शून्य नाली जो मेरुमज्जा के ठीक बीच में होकर जाती है, सुषुम्ना है । कमर की कुछ अस्थियों में जहाँ मेरुदण्ड का अन्त होता है, वहाँ बहुत बारीक सूत ऐसा पदार्थ नीचे उतर कर आता है । सुषुम्ना नली उसमें भी है, लेकिन उस स्थान में बहुत ही पतली हो जाती है ।

नीचे की ओर उस नाली का मुंह बन्द रहता है । कमर के स्नायुजाल के पास तक वह नाली है । आज-कल के शरीर - शास्त्र जानने वालों के मत से वह त्रिकाणेकृति है । उन सब नाड़ी तन्तुओं के केन्द्र, मेरुमज्जा के भीतर है । इन केन्द्रों को योगियों के भिन्न-भिन्न पद्मों का स्थानापन्न माना जा सकता है । योगियों का कहना है कि सब से निम्न मूलाधार से आरम्भ करके मस्तक के सहस्त्रदल पद्म तक कई एक केन्द्र हैं । यदि हम उन चक्रों को भिन्न-भिन्न नाड़ी जाल मान लें तो आजकल के शरीर - शास्त्र द्वारा अति सहज में योगियों की कथा का भाव समझ में आ सकता है ।

हमें मालूम है कि हमारे स्नायु में दो प्रकार के प्रवाह है । उनमें से एक को अन्तर्मुखी और दूसरे को वहिर्मुखी, एक को ज्ञानात्मक और दूसरे को गत्यात्मक, एक को केन्द्रमुखी और दूसरे को केन्द्रपसारी कहा जा सकता है । उनमें से एक मस्तिष्क में संवाद ले जाता है और दूसरा मस्तिष्क से संवाद ले आता है । ये सब प्रवाह मस्तिष्क के साथ संयुक्त है । जहाँ पर समस्त विषयों की अनुभूतियों के संस्कार समष्टि रूप से रहते हैं, उसे मूलाधार कहते हैं और उस स्थान में जो क्रिया-शक्ति संचित है, उसे कुण्डलिनी कहते हैं । कुण्डलिनी को चैतन्य करना ही तत्वज्ञान, ज्ञानातीत अनुभूति और आत्मानुभूति का एकमात्र उपाय है । किसी की कुण्डलिनी केवल भगवत्-प्रेम के बल से चैतन्य होती है । किसी की सिद्ध-महापुरूषों की कृपा से और किसी की सूक्ष्म विचार के द्वारा । जहाँ अलौकिक शक्ति या ज्ञान का विकास देखा जाय, वहाँ समझना चाहिये कि किसी न किसी प्रकार से कुण्डलिनी की शक्ति सुषुम्ना के भीतर गयी है । कभी-कभी व्यक्तिगत ऐसी अलौकिक घटनाएँ देखी जाती है कि वह व्यक्ति भी नहीं जानता कि वे कैसे हो गयी । किन्तु उसके अज्ञान में कुण्डलिनी की शक्ति किसी तरह

सुषुम्ना में प्रवेश कर जाती है । जो सोचता है कि मुझे अपनी प्रार्थना का उत्तर बाहर से मिला है, उसे नहीं मालूम कि प्रार्थनारूपी मनोवृत्ति उसकी देहस्थित शक्ति के एक कणमात्र को जगाने में समर्थ हुई है । इसलिये अज्ञानी व्यक्ति जिसकी उपासना नाना प्रकार के भय से करते हैं, योगी के मत में वह प्रत्येक के अन्तर में विराजमान है।

राजयोग प्रकृत धर्मविज्ञान है । वह समस्त उपासना, समस्त प्रार्थना, विभिन्न प्रकार की साधन-पद्धति और नाना प्रकार की अलौकिक घटनाओं की वैज्ञानिक व्याख्या है ।

अब अति संक्षिप्त हठयोग के विषय में लिखना भी आवश्यक है । हठयोग का उद्देश्य केवल स्थूल देह को सबल करना है । हठयोग का काम बहुत कठिन है । उसकी शिक्षा एक दिन में नहीं हो सकती और उससे कुछ आध्यात्मिक उन्नति भी नहीं होती । शरीर का ऐसा कोई भाग नहीं है, जिसे हठयोगी अपने वश में न कर सकता हो । हृदय उसकी इच्छानुसार चल सकता है और शरीर के सब अंशों को वह इच्छानुसार चला सकता है । मनुष्य को दीर्घजीवी बनाना ही हठयोग का उद्देश्य है । किस तरह शरीर सम्पूर्णतः स्वस्थ रहे और उसे कोई पीड़ा न हो सके इत्यादि । हठयोगी दीर्घजीवी हो सकता है । उसके लिये १०० वर्ष जीना तो एक मामूली बात है । १५० वर्ष हो जाने पर भी वह बलवान और सतेज रह सकता है । सम्भव है कि उसका एक अंग भी खराब न हो किन्तु उसका फल इतना ही है । वटवृक्ष ५००० वर्ष जीवित रहने पर भी वटवृक्ष ही रहता है । मन को पंगु बनाया जा सकता है हठयोग से ।

योग शब्द का प्रयोग कर्मयोग, लययोग, मन्त्रयोग आदि के लिये भी किया जा सकता है । इनमें कर्मयोग तो 'गीता रहस्य' का प्रधान विषय है । कर्म करते हुए किस प्रकार बन्धन रहित जीव रह सकता है, यह कर्मयोग है । साम्यबुद्धि या अन्य शब्दों में कर्म करते हुए भी फलाशा की ओर ध्यान न देना कर्मयोग का रहस्य है । फल की आशा से ही मुनष्य काम करते हैं, किन्तु जब इष्ट की प्राप्ति नहीं होती तो दुःखित होते भी देखे जाते हैं । अतः फल की आशा की परित्यक्तावस्था ही जीव के लिये उचित है । मार्ग-प्रदर्शक का अपना कोई स्वार्थ नहीं होता, वह तो जैसा उचित समझता है तथा व्यवहार में लाता है वह ही सब के लिये श्रेयस्कर होगा ऐसा समझता हुआ उपदेश देता है । अब लेने वाले का काम है जो उसे आकर्षक प्रतीत हो, उसी का अनुसरण करे ।

लययोग में जिससे सृष्टि का प्रारम्भ होता है, उसी में उसका लय होता है, इसकी मान्यता है और मन्त्रयोग में किसी मंन्त्र विशेष की अनवरत तल्लीन होकर उच्चरण कर सिद्धावस्था प्राप्त करना योग है । इनके अतिरिक्त अन्य शब्दों के साथ भी योग शब्द का व्यवहार किया जाता है ।

अब बाबा बलदेव के योग विषयक विचार रखे जाते हैं । बाबा कहते हैं - सुरता (ध्यान) और ब्रह्म के मिलाप को माया पसन्द नहीं करती - यही क्यों ? उनके संयोग को असम्भव सा कर देती है । प्रश्न यह है कि इनके मिलन के लिये एकान्त की क्यों आवश्यकता होती है ? निर्जन स्थान की आवश्यकता इसलिये होती है कि एकान्त में जगती तो रहती नहीं, केवल सुरता और ब्रह्म यही दोनों रह जाते हैं । इन दोनों के मिलन का नाम ही योग है । योग और भोग एकान्त में ही होते है । उदाहरण स्पष्ट है

कि मनुष्य अपनी पत्नी की उपस्थिति में भी संसार से लजाता है । उसी प्रकार अविद्या की उपस्थिति में सुरता और ब्रह्म मिलते नहीं । एकान्त में ही मिलते हैं । इसीलिये योगियों के लिये एकान्त आवश्यक है ।

भक्ति और योग की बातें संक्षिप्त में वर्णन की गयी है । भक्ति योग के पश्चात् ज्ञान का विशेष महत्व है । यों तो क्या भक्ति में तथा क्या योग में, ज्ञान तो सभी में अपना स्थान रखता है । बाबा की वाणी ज्ञान - मार्ग की ओर विशेष संकेत करती है । ज्ञान - मार्गी के लिये कर्म की ओर विशेष अभिरुचि नहीं रहती । वह जानता है कि विचारों की दुनिया में कर्म का जहाँ तक स्थान है, उसे सीमित कहा जा सकता है, किन्तु विचार असीम और अनन्त हैं । ज्ञानी के लिये आत्मा से भिन्न कुछ भी नहीं । गीताकार का कथन है - ''ज्ञानाग्निः सर्व कर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा''

ज्ञान रूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मों को (शुभ, अशुभ बन्धनों को) भस्ममय कर देती है । और भी कहा है -

''नहिं ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।
तत्स्वयं योग संसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति'' ।।

निःसन्देह इस लोक में ज्ञान के समान पवित्र सचमुच और कुछ भी नहीं है । काल पाकर उस ज्ञान को वह पुरूष आप ही अपने में प्राप्त कर लेता है, जिसका योग सिद्ध हो गया है । कौन ज्ञान प्राप्ति का अधिकारी है ? वहाँ फिर गीताकार के वाक्यों को दुहराना उचित होगा ।

''श्रध्दावांलभते ज्ञानं, तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञान लब्धापरां शान्तिर्माचरेणाधिगच्छति'' ।।

जो श्रद्धावान् पुरूष इन्द्रिय संयम करके उसी के पीछे पड़ा रहे, उसे (भी) यह ज्ञान मिल जाता है और ज्ञान प्राप्त हो जाने से तुरन्त ही उसे परम शांति प्राप्त होती है । किन्तु, इस भाव के अभाव में जिसे न स्वयं ज्ञान है और न श्रद्धा ही है, उस संशय ग्रस्त मनुष्य का नाश हो जाता है । संशयग्रस्त को न यह लोक है और न परलोक एवं सुख भी नहीं है ।

प्रश्न हो सकता है - ज्ञान । किसका ज्ञान ? कैसा भ्रम ? और कैसा सुख ? इस प्रश्न के लिये साधुवाद । उत्तर में कहा जा सकता है - ज्ञान या जान अपना ही । यहाँ तो आरम्भ है खुद से और क्रमशः पहुँच जाता है खुदा तक । आनन्द के लिये भक्त याचना करता है खुदा से और ज्ञानी खुद से । खुद को खुद क्या आनन्द देगा ? देने वाला और लेने वाला यहाँ एक है । जब खुद को खुद आनन्द देता है तो वह खुद से अविर्भूत आनन्द खुद ही मिल जाता है । जब तक यह स्थिति नहीं होती जीव अनेक पथों का अवलम्बन करता आया है और करता रहेगा । खुद की जानकारी ही तो यह कहने के लिये प्रोत्साहन देगी कि ''मैं वही हूँ'' । मैं ब्रह्म हूँ सत्चित्त आनन्द हूँ । तभी तो यह कह सकेगा कि सत् के आनन्द का वर्णन मुझसे न बन पड़ेगा । कह सकेगा उसी समय जब चित्त के साथ उसका सम्पर्क होगा । सत्य और आनन्द के मध्य चित्त रहता है यही चिन्तन और मनन का विषय है । जिसने इस चित्त या जगत् या शरीर धारी जीव को पहचाना कि फिर तो सत् और आनन्द का मिलाप हुआ । अब तक मौखिक कहता था अब अनुभूति का विषय बन गया ।

ज्ञान का प्रभात या प्रारम्भ कब और कैसे हुआ ? प्रश्न जटिल समझें या सरल । किन्तु प्रश्न है उपयुक्त । महाप्रलय के उपरांत सृष्टिकर्ता

के विनोद का समय आया । उसने उस जादूगर की तरह अपना झोला संभाला जो एक खेल समाप्त कर दूसरे की तैयारी में था । खेल की वस्तु अब भी उसकी झोली में । खेल आरम्भ हुआ कि खेल देखने वाला ही खेल देखते-देखते थक जाय जादूगर नहीं । अन्य जादूगर तो खेल दिखलाते हैं पैसों के लिये, किन्तु इसे तो पैसों का अभाव नहीं, क्योंकि सृष्टिकर्ता जो ठहरा । पैसों के बदले में आप इसे भक्ति दे दो तो यह अति प्रसन्न होगा । यदि इसी के पैसे इसको अर्पित किये गये तो यह कब खुश होने वाला है ? जादूगर - तेरी जादूगरी हम कब से देखते आ रहे हैं, इसे हम स्वयं नहीं जान पाये । तुम तो जानकार हो । अच्छा, खेल दिखलाने के स्थान में हमें भी दो चार खेल दिखलाना सिखला दो - तुम्हारा गुण गायेंगे । जग में अनेक वस्तु पायेंगे - नाम, यश, धन, वैभव और न जाने क्या-क्या पायेंगे । जादूगर कुछ भी तो सिखलाओ जादूगर की अनुनय विनय करो उसका हृदय पसीजे । जगत में है भी क्या, जहाँ देखो इसके खेल दिखलाये जा रहे हैं । स्वयं जादूगर बनोगे या खेल देखने वाले यह निर्णय जादूगर पर ही छोड़ न दो । देखो, वह क्या करता है ?

नहीं तो ''निग्रहः किंकरिष्यति''- बल, हठ, जिद्द की कब चली ? तुम ज्ञानी-इस ज्ञान का प्रदाता कौन ? तुम या जादूगर ? यह जादूगरी सीखी किससे ? सब उसी का खेल है - भक्त-योगी-ज्ञानी । यह तुम्हारे लिये श्रेणी-विभाग है । उसका खेल ही निराला है । यों तो वह भी कहता है गीता में - मेरे भक्त चार प्रकार के आर्त-अर्थार्थी-जिज्ञासु और ज्ञानी हैं । ज्ञानी तो मुझे प्राणाधिक है । और सुनोगे ? योगी वह जो इन्द्रियों को साम्य भाव में लाकर स्थिर चित्त से मेरा चिन्तन करे । जो खाने-सोने आदि कार्यों में 'अति' न करे । और भक्त के लिये तो उसका द्वार सदा खुला है । अपना

'अहं' जरा भूल बैठो फिर देखो कैसे-कैसे खेल दिखलायेगा । है न वह जादूगर ?

वह कहता है -

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज ।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।

देखा जादूगर के 'अहं' को । यदि तुम अपना 'अहं' भुला दो तो वह अपने 'अहं' में तुम्हारे 'अहं' को मिला दे - तुम्हारे झंझट सदा के लिये विदा हो जाये । किन्तु हो कब ? जब तुम उसकी शरण में जाओ । शरण को सुनकर तुम्हारे अहंकार को ठेस तो नहीं लगी । शरण का अर्थ है आश्रय में । अभी तक तो निराश्रित के रूप में भटकते रहे । अब यदि आश्रय पाने के इच्छुक हो तो चले आओ । अब भी समय है उसने अपने हाथ बढ़ा रखे हैं, तुम्हें अपनाने के लिये । पाठक कह सकते हैं कि ज्ञान के प्रकरण में यह भक्ति की वार्ता क्यों ? भक्ति और ज्ञान को पृथक समझनेवाला मूल सिद्धान्तों से सदा दूर रहेगा । भक्ति और ज्ञान किसका ? उसी का न जिसने कहा - शरण में आओ मैं तुम्हें पवित्र बना दूँगा । ज्ञान का अभिमान क्यों ? ज्ञान है, जानकारी है तो उससे लाभ उठाओ, उसका बोझ सिर पर लादे क्यों घूम रहे हो ? ज्ञानी हो तो यही न कहोगे कि ''मैं वही हूँ'' । ठीक है तुम वही हो, किन्तु ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं यह बात भक्त को क्यों कहते हो ? वह भी तुम्हारे ही पथ का अनुयायी है । तुमने अपनी समझ का बोझ सिर पर रखा और उसने (भक्त ने) उसी को दे डाला जिसके लिये तुम कहते हो 'मैं वही हूँ ।' कहाँ है अन्तर ? यदि अन्तर समझते हो तो तुमने अपने को नहीं समझा और जिसके लिये तुम 'मैं वही हूँ' कहते हो उसको भी नहीं समझा ।

भक्त अर्पण करता है और तुम ग्रहण करते हो किन्तु ग्रहण करते हो उस समय जिस समय तुम 'तुम' नहीं रहते । जब तक तुम में 'तुम' है अर्थात् अहंकार है तब तक इन शब्दों को कहकर अपने 'अहं' को फुला फला कर मोटा कर रहे हो । ज्ञानी वही जो जान ले - भक्त वही जो पहचान ले । जान और पहिचान में यदि अन्तर हो तो ज्ञानी और भक्त में अन्तर । सो है कहाँ ? यह तो अहंकार ने भ्रम में डाल रखा है । भूले न होंगे जादूगर और उसके खेल । ज्ञान और भक्ति तो तुम्हारे लिये भिन्न-भिन्न है, उस जादूगर के लिये तो दोनों ही हाथ की सफाई है । भक्त बोझ अर्पण करता जादूगर को और ज्ञानी ? ज्ञानी है इसलिये समझ का बोझ अपने साथ ही रखता है ।

ज्ञान या भक्ति के तीन सोपान है - श्रद्धा-विश्वास-निष्ठा । श्रद्धा किसके प्रति ? अपने से महान् के प्रति । यह किसका काम है ? मन का । मन श्रद्धा क्यों करता है ? मन की उत्पत्ति चन्द्रमा से है - कोमलता - स्निग्धता चन्द्र का स्वाभाविक धर्म है और वही मन का । समुद्र की तरंगों का नृत्य चन्द्रमा की वृद्धि के साथ है । पूर्णिमा की रात्रि को समुद्र नर्त्तन भिन्न ही होता है । श्रद्धा भी कोमल मन का आश्रय पाकर फलवती होती है । समान धर्मी होने के कारण मन श्रद्धा का उपासक है, श्रद्धा का आश्रय स्थान है । किन्तु होता है तभी जब महान् के दर्शन होते हैं । श्रद्धा हमारे मन की स्वच्छता को कोमल बना देती है । अब तक मन नीरस हो चक्कर काट रहा था अब श्रद्धा को अपनाया कि रसमय हो गया । रस-आनन्द, मन-चन्द्रमा । सत्-चित्-आनन्द में सत् एक छोर और आनन्द अन्य । चित्त रूपी पुल ही दोनों के मिलन का साध्य बनता है । किन्तु, मन इन भावों

को अपनाता है तभी, जब वह श्रद्धा का हो जाता है । मन श्रद्धा क्यों करता है ? यह है इसका संक्षिप्त उत्तर ।

मन समुद्र, चन्द्र श्रद्धा में स्वाभाविक सम्बन्ध है, मन-समुद्र और चन्द्र । समुद्र का चन्द्र से जो सम्बन्ध है वह तो समुद्र मंथन के समय ज्ञात हो गया तथा मन का चन्द्रमा से वह वेद विदित है ।

श्रद्धा ही प्रथम सोपान है या भित्ति जिस पर भक्ति, योग और ज्ञान का सुदृढ़ भवन निर्माण होने को है । श्रद्धा अन्धी होती है और वैसा ही मन । वहाँ बुद्धि का परामर्श निरर्थक है । क्यों श्रद्धा हुई ? वह कोई दिल से पूछे, दिमाग से नहीं । दिल की दुनिया दिमाग की दुनिया से भिन्न है । प्रायःलोग श्रद्धा को अन्धी कहकर उसकी उपेक्षा करते हैं किन्तु किसी की नुक्ताचीनी की वहाँ गुञ्जाइश नहीं । दिल ने जिसको अपनाया उसका होकर अपनाया । यह श्रद्धा भी कोई साधारण भाव नहीं । बड़े-बड़े ग्रन्थों का पठन-पाठन हो चुका, किन्तु यह पुस्तकी खेल पुस्तक ही तक सीमित है या दूसरे शब्दों में निरर्थक है, यदि श्रद्धा की उस पर कृपा न हो । कब यह किसी को अपना बना लेती है, यह तो वही जाने जो इसका हो चुका है । अन्य जन तो श्रद्धा अन्धी है कहकर इसकी सार्थकता का मूल्य कम करना चाहते हैं, किन्तु किसी के मूल्य अधिक या कम करने की चेष्टा करने से भाव विशेष की उपादेयता में कमी नहीं आती । तो श्रद्धा का पात्र भी बनना सरल या अति सरल नहीं ।

दिल का सौदा दिल से ही होता है दिमाग से नहीं । वहाँ समझ वाले फिर कहेंगे कि जहाँ दिमाग नहीं वहाँ दिल का क्या मूल्य ? यह तो

उनका पक्ष है किन्तु 'कोई दिल की लगी को क्या जाने' ? श्रद्धालु जीव ही श्रद्धा का पात्र बनता है अन्य तो आलोचक बनने का प्रयास करते हैं । ज्ञान हो या भक्ति, श्रद्धा ही उनका मानसिक धरातल ऐसा बनायेगी जो अन्य व्यक्तियों से भिन्न होगा । श्रद्धा क्यों हुई, कब होती है आदि प्रश्न भी रखे जाते हैं, किन्तु संक्षिप्त उत्तर यही हो सकता है कि इसके बिना आगे कदम बढ़ नहीं सकता । जीवन में आनन्द का आगमन या मिलन नहीं हो पाता । कैसा आवश्यक अंग है यह जिज्ञासु के लिये इस पर अधिक प्रकाश शब्दों द्वारा न डाल कार्यों द्वारा पड़े तो जीव का कल्याण हो ।

श्रद्धा भी डिगती हुई देखी गई है, अतः केवल श्रद्धा से काम न बन पड़ेगा वहाँ आवश्यकता है विश्वास की । विश्वास बुद्धि का विषय है, जैसे श्रद्धा मन का । मन से बुद्धि और फिर बुद्धि से आत्मा तक पहुँचने के लिये जिज्ञासु आतुर रहता है, वैसे ही श्रद्धा से विश्वास और फिर विश्वास से निष्ठा तक भाव बनें, तब कहीं उसकी सुदृढ़ता हो पाती है । विश्वास भी यों ही हो जाता है ऐसी बात नहीं । आज जिसके प्रति श्रद्धा है कल उसका समर्थन बुद्धि करेगी और कहेगी कि हाँ, तुमने जैसा उसे अपनाया था वह उससे भी अधिक अपनाने के योग्य है । ये भाव ही श्रद्धा को विश्वास के रूप में बदल देंगे । मन का विषय अब बुद्धि का बन गया और विचार दृढ़ होते गये । प्रस्तावक का जब समर्थन हो जाता है तो उस प्रस्ताव की केवल शक्ति ही नहीं बढ़ती बल्कि वह प्रस्ताव कहलाने के योग्य हो जाता है । केवल प्रस्ताव हो और उसका कोई समर्थक न हो तो प्रस्ताव, प्रस्ताव ही बना रहेगा, विचारणीय न समझा जायेगा । अतः जब श्रद्धा, बुद्धि का समर्थन प्राप्त कर सकी तो श्रद्धा, विश्वास बन गई ।

मन और बुद्धि का खेल यदि यहीं तक रहा तो पर्णू काम न बन सकेगा अतः आत्मा में निष्ठा का वास हो तो काम बनें । श्रद्धा, विश्वास और निष्ठा से जीव शिव होता है - मार्ग भक्ति, योग, ज्ञान या अन्य नाम से क्यों न सम्बोधित किया जाय ।

ज्ञान के लिये बाबा बलदेव की अनेक वाणियाँ हैं जिन्हें समझना और मनन करना आवश्यक है । बोध तो निज का निज को करना है किन्तु गुरू कृपा ही महा सम्बल है । वे भाव जो यों ही आते और विलीन होते थे पूर्व अवस्था में आज गुरू कृपा से अपना रहस्य समझाते हैं । बाबा की वाणी में अनेक वाणियाँ हैं जो हमें ज्ञान का मर्म समझाने में सहायक सिद्ध होती हैं । एक बार एक जिज्ञासु का प्रश्न था ''भगवन्, ब्रह्म की स्थिति जड़, चेतन में किस प्रकार है ?'' बाबाजी ने कहा - ''वह है सर्वत्र, पर दिखता नहीं'' । उसकी स्थिति इस प्रकार है जैसे दूध में घी । दूध में घी दिखलाई नहीं देता, उसी प्रकार शरीर में ब्रह्म है पर प्रकाश में नहीं आता । दूध को उबाल कर ठंडा किया जाता है, तब दही बनाया जाता है । मथने पर घी स्तर पर आ जाता है । दूध स्वयं घी उत्पन्न नहीं कर सकता । इसके लिये जिस प्रकार मनुष्य परिश्रम कर घी निकालते हैं उसी प्रकार जीव में ही ब्रह्म निवास करता है किन्तु सद्गुरू ही परिश्रम कर जड़ शरीर में चैतन्य ब्रह्म का भान कराता है । घी निकलने के पश्चात् फिर छाछ में नहीं मिलता, उसी प्रकार ब्रह्म का भान होने के पश्चात् जीव फिर गोरख धन्धे में नहीं फंसता, उसे सांसारिक कार्य भी क्यों न करने पड़ें ।

ज्ञान का परिचय कतिपय वाणी से देना क्या सरल कार्य है ? कहने वाला दो बातें कहकर शान्त हो जाये या सौ, किन्तु कहने को फिर भी रह

जाता है । बाबा ने मन का विश्लेषण अति सरलता से किया है । हम किस प्रकार भावों को देखते हुये अपने को भूलकर भावों से प्रभावित हो भावमय हो जाते हैं यह विचारणीय प्रश्न है । उदाहरणार्थ एक मनुष्य हमें दुर्वचन कहता है, हम उसकी बातें सुन क्रुद्ध हो वैसे ही शब्दों में उसे उत्तर देने लगते हैं । उस समय भूल बैठते हैं कि हमें कैसा व्यवहार करना चाहिये । किन्तु यदि शुद्ध अन्तःकरण हो तो सभी बातें स्पष्ट हो जाती हैं । बाबा इन विचारों का स्पष्टीकरण इस प्रकार करते हैं - सड़क पर पनवाड़ी की दुकान है, दुकान में आईना है । सड़क पर चलते हुए की परछाई आईने पर पड़ती है । उसी प्रकार मन रूपी दर्पण जब निर्मल हो जाता है, विचारों की छाया पड़ती है । अब, जब विचार आयेंगे तो उसकी परिछाई तो देखी जायेगी किन्तु वास्तव में यह तो छाया मात्र है, वस्तु नहीं । गति तो उस वस्तु में है। छाया में नहीं । मैले आईने में छाया स्पष्ट नहीं दिखलाई देती, उसके निर्मल होने से छाया स्पष्ट दृष्टिगोचर होगी । अन्तःकरण की निर्मलता से अपने विचारों का स्पष्टीकरण होता है ।

तो बाबा ने हमें बताया कि गति विचारों में है और प्रतिबिम्बित होती है मन पर । प्रश्न हो सकता है कि यह बाहरी गति हमारी दुर्गति या सद्गति का कारण क्यों बनती है ? वहाँ उत्तर हो सकता है कि गति तो बाहरी ही है, किन्तु वहाँ अभी समझ ही नहीं है कि यह हलचल बाहरी है कि भीतरी । ये बातें तो जानकार ही कह सकता है और फिर यह जानकारी भी क्या सरलता से होती है । इसके लिये तो जब प्रभु कृपा, गुरु कृपा जो कुछ आप कहें, होती है तब ही होती है । अन्यथा जीवन पर जीवन चलचित्र की तरह आते हैं और कुछ लेते हुए बहे चले जाते हैं । उनका बहना सामान्य बहना नहीं । बाढ़ में पड़ यदि मनुष्य कहे कि वह कैसी रफ्तार के साथ तैर

रहा है तो दर्शक यही न कहेगा कि भले आदमी अपनी जान बचाओ । तैरना तो कोई और वस्तु है अभी डूबने से रक्षा करो । जिसे तुम तैरना कहते हो वह तो बाढ़ में बहे जाना है । वैसे ही मनुष्य भावों की बाढ़ में बहा चला जाता है, कूल, किनारा नहीं पाता ।

किनारा पाये कब ? वह तो बहा जा रहा है । सन्त कबीर के शब्दों में ''कन्या कुमारी ही रह जाती है'' । जीव, शिव की स्थिति में कहाँ हो पाता है ? बहते जाना ही रूपरूपान्तर दिखलाता है । भाव की बाढ़ इस जागतिक बाढ़ से कहीं भयंकर होती है । रक्षा होती है तभी जब हमें किनारे पर खड़ा हुआ व्यक्ति महाजाल से मुक्त होने के लिये भावरूपी रस्सा धराये । अब तक तो हम बहे जा रहे थे और उसी को जीवन और न जाने क्या-क्या समझ रहे थे, किन्तु हमारी समझ बेचारी क्या करे ? वह गतिविधि देखती है बाहर और समझती है भीतर । इस भीतर बाहर के द्वन्द्व में ही तो जीवन बीता जा रहा है ।

भाव का विचित्र समाज नयी-नयी पोशाक पहन कर आता है तो मानव समझ नहीं पाता और नृत्य आरम्भ होता है । एक और भावों का नृत्य होता है और दूसरी ओर भोले प्राणी रोते हैं और विलाप करते हैं, चिल्लाते हैं । नृत्य देखा आनन्दित भी नहीं होते । हों भी कैसे, जान नहीं पाते कि नृत्य हो रहा है । नटवर नाच रहे हैं, इन विचारों में, नटवर नाच रहे हैं । नृत्य देख । आनन्दित हो जा जीव, इन पुराने रोने गाने को कब तक बन्दरी के मरे हुए बच्चे की तरह गोद में लिये घूमते रहोगे ? अरे, फेंको उन्हें, देखो नृत्य, आये हो क्या रोने के लिये ? चिल्लाने के लिये ? नहीं, नहीं भूलते हो, अनेक स्थलों पर शोचनीय भूल हो रही है । न समझ

पाते हो विचारों के नृत्य को और न यह समझ पाते हो कि कैसे ये बाहरी विचार तुम्हें प्रभावित करते हैं तथा कैसे तुम प्रभावित होकर उन्हें अपने विचार समझ लेते हो । बाबा की वाणी सचेत कर रही है, समझा रही है कि कैसे ये विचारों के नृत्य मनुष्यों को नचाते हैं, प्रभावित करते हैं । जब तक बाहर भीतर का रहस्य नहीं समझते तब तक कहाँ रक्षा है, बाढ़ में न बहे जा रहे हो ?

यदि प्रश्न है कि रक्षा कब और कैसे सम्भव हो सकती है ? उत्तर हो सकता है, जब तक भावों का रस्सा ग्रहण नहीं करते, यों ही होता रहेगा । भावों की प्रतिछाया से प्रभावित होने वाला तथा उन्हीं के अनुकूल काम करने वाला कब उनके रहस्य को समझ सका है ? फिर सोचो और समझो कि गति कहाँ है ? पनवाड़ी के आइने में है या चलने वाले में ? समझो यदि अब भी नहीं समझ पाते या दिल दिमाग में इसे स्थान नहीं दे पाते तो समय आने दो । लगे रहो कर्तव्य में, अर्थात् सत्संग में जब तक दम में दम है । समय आयेगा, लगन रही तो काम बनेगा - आराम मिलेगा, 'मुक्ति' होगी । संसार के झंझटों से चुक्ति, तो न कहीं मुक्ति ।

विचारों का ही खेल है । जब तक अपने कहलाने वालों के लिये मरते हैं, मरते ही जाते हैं । जीते हैं तभी, जब इस जीने मरने के झंझट को समझ लेते हैं ।

जगत् में जीने-मरने के प्रश्न को अनेक लोगों ने अनेक ढंग से रखा है । एक मत कहता है हम जीते हैं मरने के लिये, दूसरा कहता है हम मरते हैं जीने के लिये ।

हमें मत-मतान्तरों के वितण्डावाद में नहीं जाना है । जो हमारे व्यक्तित्व को ससीम से असीम में मिलाये ऐसे भाव हमारे लिये सहायक सिद्ध होते हैं । किन्तु बाबाजी तो पूछते हैं कि ये भाव तुम्हारे हैं या आइने में प्रतिबिम्बित हो रहे हैं ? ठीक ही है - हम समझ नहीं पाते हैं इन विचारों को और इसीलिये कह बैठते हैं कि ये हमारे हैं । यहाँ हमारा कहने के लिये कुछ भी नहीं । जिस शरीर को हम हमारा कहते हैं वह भी साथ नहीं देता ऐसे संसार में हमारा कौन ? भावों का खेल देखने के लिये ही बाबाजी कहते हैं, उन्हें अपना समझने के लिये नहीं । इसीलिये पनवाड़ी के आइने का उदाहरण देकर विचारों के घटाटोप का रहस्य समझाया ।

संसार के सभी धर्मों में विधि-निषेध का वर्णन है । यह करो, यह न करो । बाबाजी ने उस पर जोर न देते हुए विचारों का आना, उनका प्रभाव डालना तथा जीव का प्रभावों से प्रभावित होने का वर्णन जिस सरलता से किया है, वह न केवल विचारणीय है बल्कि अलौकिकता का भाव लिये हुए है । प्रश्न फिर हो सकता है कि इसमें आपने क्या विशेषता या अलौकिकता देखी । यहाँ कहा जा सकता है कि 'गूढ़ता' को यदि गूढ़ कह कर छोड़ दिया जाये तो वह फिर सरल कब बन सकेगी ? 'गूढ़ता' तो सदा अपने विचारों का बोझ मनुष्यों पर डालती रहेगी । किन्तु प्रभु कृपा से जीवों के हित करने वाले प्रभु भक्त आते हैं और प्रभु की भक्ति करते-करते और भी बहुत से विचारों की निधि पा जाते हैं । ये विचार संसार के सम्मुख रखते हुए ये ईश्वरीय विभूतियाँ तिरोहित हो जाती हैं । इनकी वाणियाँ पण्डितों की बातों से अनोखी होती हैं । बल्कि कहीं-कहीं तो ये सन्त कह देते हैं ''अढ़ाई अक्षर प्रेम का पढ़े सो पंडित होय'' । मन, बुद्धि की गति के परे की बातों की झलक इनकी वाणियों में मिलती हैं सच तो यह है कि जब तक

जीव इनके सम्पर्क में अर्थात् इनकी वाणी के सम्पर्क में नहीं आता तब तक अनेक बातें उसके लिये जटिल प्रश्न बनकर माथे पर मंडराया करती हैं ।

जो लोग इनकी वाणी को 'कल्पना प्रसूत' कहकर उड़ा देना चाहते हैं वे जैसा उचित समझें, वैसा करें । हम तो उनसे यही प्रार्थना करते हैं कि जरा शान्त होकर सोचिये तो सही कि भ्रम पूर्ण या 'कल्पना प्रसूत' विचारों को संसार के सामने रखने का क्या कारण हो सकता है ? उनकी वाणियाँ तो जीवन में घटित होने वाली घटनाओं की तरह स्थान रखती हैं । जिसे जैसा देखा, जैसा पाया वैसा ही कहा । सन्त, पंथ चलाने के लिये नहीं कहते । उनका तो स्पष्ट कथन है कि 'ये हैं विचार' इन्हें अपनाना चाहो तो अपना सकते हो । लोग प्रभावित होकर अपने को किसी संत विशेष का शिष्य कहते हैं किन्तु जिस सन्त की वाणी की कुछ विशेषता हम आपके सामने रख रहे हैं, उसकी यह स्वप्न में भी इच्छा न थी कि कोई उसका शिष्य बन कर अपना परिचय दे । वाणी के लिये वकालत करने की आवश्यकता नहीं, श्रवण या ग्रहण करने वाले स्वयं समझ लेंगे कि कहाँ है विशेषता । हम तो मुग्ध हो जाते हैं उनकी एक-एक वाणी पर । हो सकता है आलोचक या निष्पक्ष बन्धु इस भाव को उचित न समझें, किन्तु हमारा हृदय बरबस हमसे कहलाता है वे बातें, जिन्हें सुन और पढ़, अनेक बन्धु आक्षेप कर सकते हैं आदि ।

स्वयं सड़क, निर्मल अन्तःकरण, विचारों के द्वन्द का अन्त, कर्म फल का अन्त, ये छींटे, यह वाचालता क्यों ? भक्त और भगवान आदि कितने ही ऐसे ही भाव हैं, जिनका आनन्द लेने वाला चाहिये, वहाँ कमी कहाँ ? अभाव कहाँ ? आज का जीवन इतना जटिल होता जा रहा है, जहाँ

'वाणी' सुनने सुनाने का अवकाश नहीं । इसके लिये जिम्मदार कौन ? हम इसका निर्णय करना नहीं चाहते । हम तो कहेंगे कि आप एक बार शान्त वातावरण में बैठकर पढ़ जाइये बाबा की वाणी । यदि आप आनन्द में विभोर हो जायें तो समझ लीजिये कि इनके कहे हुए वाक्य काम के हैं अन्यथा छोड़िये इन वाणियों को । उपदेश देने का न हमने ठेका लिया है और न संसार में नवीन अनुभूति के अवतरित होने का आश्वासन । उचित समझें, अपनायें, नहीं तो उनकी वाणी उन्हीं को मुबारक रहे । आप जैसा करते आये हैं, कर ही रहे हैं, किसी की कब सुनने लगे ? हमें उनकी वाणी अच्छी लगी, समझा आप भी उससे लाभ उठा सकेंगे । इसलिये कुछ बातें आपके समक्ष रखी । यदि जिज्ञासा हो अपने को जानने की, संसार को पहचानने की, तो कुछ समय निकालें, इन वाणियों का अध्ययन करें, मनन करें और समय ही बतलायेगा कि आपका प्रयास कहाँ तक सफल रहा ।

इन शब्दों के साथ लेखनी को विश्राम दिया जा रहा है । यदि भक्तों ने, जिज्ञासुओं ने पुनःकुछ दिलचस्पी ली तो और भी बातें जनता - जनार्दन के सम्मुख रखने की चेष्टा की जाएगी । भगवान् के प्यारे, भक्तों के दुलारे, संसार से न्यारे, सन्तों की जय ।

बाबा - वाणी

(१) मन की सीमा :-

चंचल मन विषयों के पीछे दौड़ रहा है, चक्कर काट रहा है । दौड़ने वाले के पीछे दौड़कर क्यों थकते हो ? अपने रूप में लीन हो जाओ । इस मन का दायरा सीमित है । यह स्वयं लौट आयेगा पीछे दौड़कर परेशान न बनो ।

(२) पात्रता :-

बाबाजी स्वयं अपने को ठठेरा कहते और आगत जिज्ञासुओं को बर्त्तन खरीदन वाला । वे कहते - ''फुटा बर्त्तन तो मैं उनका ले लेता हूँ और उसके बदले में नवीन बर्त्तन देता हूँ । धनी विद्वान आदि को देख यह समझना उचित नहीं कि इनके पात्र उचित है, ये तो फूटे बर्त्तन हैं, जिनमें सार ग्रहण करने की शक्ति नहीं ।''

(३) माया, विश्व की रचना और लय:-

मोर को नृत्य करते देखा है ? मयूर हर्षित हो पंख फैलाता हुआ नृत्य करता है - पंखों का रंग मन मुग्ध कर देता है । नृत्य का आरम्भ विश्व का आरम्भ है, पंखों का रंग माया है, पंखों का समेट लेना लय है ।

(४) त्याग :-

दुनिया ने त्याग की समस्या हल करने में अपने को असमर्थ पाया । यदि एक-एक विषय की भावना का त्याग किया जाये तो न जाने

कितने शरीर धारण करने पड़ेंगे और भी उनका त्याग जीवन में हो सकेगा इसमें भी सन्देह है । यहाँ त्याग की शास्त्रीय परिभाषा की ओर ध्यान न दे त्याग की अद्‌भुत रूप-रेखा की गई है । मनुष्य एक अवस्था विशेष में रहता है वह अब उस अवस्था में दिलचस्पी न पाकर अन्य धरातल की ओर कदम रखता है । फलतः उसकी पूर्व अवस्था का त्याग स्वयं ही हो जाता है । वास्तव में यही त्याग है ।

(५) पश्चात्ताप :-

पश्चात्ताप का मनुष्य जीवन में एक विशेष महत्व है । चालू जीवन में नवीनता लाने के लिये पश्चात्ताप ही मार्ग-प्रदर्शक है । पश्चात्ताप की भावना ही उसे इस निष्कर्ष की ओर संकेत करेगी कि तूने यह भूल की और तेरा यह मार्ग भ्रमात्मक है । तुझे नवीन मार्ग का अनुसन्धान करना होगा और तभी तू कुछ कर गुजरने की शक्ति पा सकेगा ।

(६) अन्दाज़ का स्थान :-

मनुष्य को एक ऐसी अज्ञात शक्ति प्राप्त है जो अनवरत बतलाती रहती है कि अमुक वस्तु ऐसी है और अमुक वस्तु वैसी । यह शक्ति हमें मान, सम्मान, भले-बुरे का भान कराती रहती है । इसका कार्य स्वतः होता है और इसका अन्दाज़ इतना सुन्दर और निर्भ्रान्त रहता है कि मनुष्य देखता ही रह जाता है । इसी अज्ञात शक्ति ने ससांर को देखा और विश्व के आकर्षण का अन्त किया । यों तो संसार उस मनुष्य के लिये आकर्षण और सौन्दर्य का भण्डार था किन्तु जिस दिन से इस अज्ञात शक्ति से परिचय प्राप्त हुआ इसने सम्पूर्ण विश्व को निस्सार सिद्ध कर दिया । इस

शक्ति को न हम मन कह सकते है और न बुद्धि । यह इन दोनों से ही भिन्न है । इसका यथार्थ काम आप स्वयं व्यवहार में लाकर ही जान सकेंगे ।

(७) विचारों के द्वन्द का अन्तः-

मनुष्य के विचार सड़क पर चलते हुए पथिक के समान हैं । मनुष्य स्वयं एक भव्य भवन की खिड़की पर खड़े हुए मनुष्य की तरह है । अब वह स्वयं यों कहने लगे कि भले-बुरे विचार क्यों आते हैं ? अच्छे ही अच्छे विचार क्यों नहीं आते ? तो उसकी भूल है । विचार रूपी पथिक तो यों ही आते जाते रहेंगे इनका काम ही है आने जाने का । यदि अच्छे विचारों को अपनाना चाहते हो तो तुम्हारी इच्छा, किन्तु अब यह तुम्हारा काम है कि पहचानो कि कौन अच्छा है और कौन बुरा । स्पष्ट बात तो यह है कि अच्छे बुरे विचारों के लिये अपने को क्यों व्यग्र बनाते हो। विचारों का खेल ही क्यों नहीं देखते ?

(८) निर्मल अन्तःकरणः-

सड़क पर पनवाड़ी की दुकान है, दुकान में आईना है । सड़क पर चलते हुए की परछाई आइने पर पड़ती है । उसी प्रकार मन रूपी दर्पण जब निर्मल हो जाता है, विचारों की छाया पड़ती है । अब जब विचार आयेंगे तो उनकी परछाई तो देखी जायेगी किन्तु वास्तव में ये तो छाया मात्र है, वस्तु नहीं । गति तो उस वस्तु में है, छाया में नहीं । मैले आईने में छाया स्पष्ट नहीं दिखलाई देती उसके निर्मल होने से ही छाया स्पष्ट दृष्टिगोचर होगी । अन्तःकरण की निर्मलता ही अपने विचारों का स्पष्टीकरण करती है ।

(९) बे पते का पता :-

अनेक विचार उत्पन्न होते तथा विलीन होते हैं । क्या तुम बतला सकते हो कि उनका उद्‌गम स्थान कहाँ है, तथा कहाँ ये विलीन होते हैं ? ये विचार असीम है एक से एक विचित्र । जब तक मनुष्य अपने शरीर, मन का ध्यान रखता है तब तक इस रहस्य का पता नहीं चलता ज्यों ही वह अपने साढ़े तीन हाथ के शरीर को भूल बैठता है तो उसे उन असीम विचारों के उद्‌गम स्थान का पता लग जाता है । खुद की पहिचान से बेपते की बातों का पता लगता है।

(१०) योग :-

सुरता (ध्यान) और ब्रह्म के मिलाप को माया पसन्द नहीं करती - यही क्यों, उनके संयोग को असम्भव सा कर देती है । प्रश्न यह है इनके मिलन के लिये एकान्त की क्यों आवश्यकता होती है ? निर्जन स्थान की आवश्यकता इसलिये है कि एकान्त में जगती तो रहती नहीं केवल सुरता और ब्रह्म यही दोनों रह जाते हैं, इन दोनों के मिलन का नाम ही योग है । योग और भोग एकान्त में ही होते हैं । उदाहरण स्पष्ट है कि मनुष्य अपनी पत्नी की उपस्थिति में भी संसार से लजाता है । उसी प्रकार अविद्या की उपस्थिति में सुरता और ब्रह्म मिलते नहीं, एकान्त में ही मिलते हैं । इसलिये योगियों के लिये एकान्त आवश्यक है ।

(११) भिन्नता का कारण :-

मनुष्य अपनी बुद्धि को अपने से भिन्न समझता है - यह भिन्नता ही भेद का कारण बन जाती है । यदि उसे अपनी बुद्धि से पूरा काम लेना है

तो उसे बुद्धि में सम्मिलित हो जाना चाहिये । इस भेद का अन्त भिन्नता का अन्त है । भेद मिटा, भिन्नता का लोप हुआ ।

(१ २) समझ :-

समझ एक जेब की तरह है । जिस तरह जेब की वस्तु सदा साथ रहती है उसी प्रकार समझी हुई बात भी सदा साथ रहती है । कैसी बातों का संग्रह होना चाहिये यह तो संग्रहकर्ता की बुद्धि पर निर्भर करता है ।

(१ ३) अधिकार :-

क्षेत्र का स्वामी क्षेत्र की सभी वस्तुओं का अधिकारी है । क्षेत्र के बाहर की वस्तुओं का अन्त नहीं और उन पर उसका अधिकार भी नहीं । जो वस्तु अपनी समझ के अहाते के अन्दर आती है मनुष्य उसी का उपयोग कर सकता है अतः अधिक से अधिक अपनी सीमा बढ़ायें तथा ज्ञान और भाव की वृद्धि करें ।

(१ ४) स्वयं सड़क :-

सड़क पर लोग आते हैं और जाते हैं परन्तु इससे सड़क पर कुछ भी प्रभाव नहीं होता । स्वयं सड़क है और विचार आने जाने वाल आदमी । स्वयं, निर्लेप सड़क की तरह रहो । विचार आते हैं और जाते हैं इसके लिये चिन्ता की आवश्यकता नहीं ।

(१५) कर्म का अन्त :-

बाबाजी कहते, भाई, इन कर्मों के अन्त का दर्शन करने के लिये क्यों व्यग्र हो रहे हो ? ये कर्म तो पके हुए उस फल की तरह हैं जिसके पक जाने पर स्वयं ही फल अलग हो जाता है । फल को लता से पृथक करने की चेष्टा करोगे तो फल तो अलग शीघ्र होगा ही नहीं साथ ही साथ थक जाओगे और कष्ट पाओगे । कर्म का अन्त तो स्वतः है । फिर भला इनका अन्त करने के लिये यह बैचेनी क्यों ?

(१६) सिद्ध के मन की गति :-

मन मेढ़क की तरह आनन्द तालाब में रहता है । अब खेलने के लिये उछल कर जल के बाहर भूमि पर आता है और कुछ खेल कूद करने के पश्चात् फिर जल में चला जाता है । जल ही उसका आनन्द भवन है । सिद्ध का ध्यानावस्थित रूप उस तालाब की तरह है जिसमें मेढ़क रूपी मन अति आनन्दित हो उस स्थान के निवास ही में लीन रहता है । बाहरी जगत् का सम्पर्क तो उस मेढ़क का उछल कर किनारे की भूमि पर आना है ।

(१७) मन के विषयों का बृद्धिकरण :-

तालाब में एक जलचर ऐसा रहता है कि जब वह जल के बाहर अपनी गर्दन निकालता है तो जल में चक्कर की तरह गोलाकार रूप बनता है । वह गोल चक्कर बढ़ते-बढ़ते अति विशाल रूप बना लेता है किन्तु ज्योंही वह जलचर डुबकी लगाता है तो जल के उस वृहद् रूप का अन्त होता है और वह जलचर स्थान में चला जाता है । ये विषय भी बढ़ते जाते हैं, इस चक्कर के रूप में । आज का धन इच्छुक थोड़ी संख्या से प्रारम्भ कर उस संख्या को बढ़ाता ही जाता है फिर भी शान्त नहीं हो पाता । दूसरी

ओर ज्योंही उसने अन्तर दृष्टिपात किया तो चकमक का अन्त हुआ और अपने रूप में समा गया । यह है मन के विषयों का फैलाव और अन्त ।

(१८) ये वाचालता क्यों ?

अपने को धोखा देने से बड़कर और भयानक विश्वासघात नहीं - वे सज्जन जो वेद वेदान्त और उपनिषद् के महावाक्यों का हवाला देते हुए कहते हैं कि हमें मोह, शोक नहीं प्राप्त होता - हम हार और जीत को एक समान समझते हैं वे अन्य लोगों में अपनी ख्याति के लिये ऐसा कहते हैं किन्तु ऐसा कहना स्वयं को धोखा देना है । सुख, दुःख, काम, क्रोध के कार्य देखकर स्वतः ही मनुष्य अपने में उनको देखता है । ये भाव तो उत्पन्न होंगे ही फिर अपने को क्यों जिम्मेदार ठहराते हो - भाव आवें और जावें इनका लक्ष्य ही तो असली काम है । इसे न कर जो व्यर्थ उन भावों को छिपाकर मिथ्या लोगों को ऐसा आदर्श और उपदेश देते हैं वे स्वयं झूठे हैं और अन्य लोगों को भी अज्ञानता के अन्धकार में ढकेलते हैं ।

(१९) ज्ञान और त्याग का स्थान :-

काम, क्रोध, लोभ आदि विशाल भवन के सिंहद्वार खुले रहते हैं और ये अपना रूप, हृदय को रंगभूमि बना दिखलाते हैं । ज्ञान और त्याग के विशाल भवन के दरवाजे की कुञ्जी सद्गुरू के पास है । यदि जीव आत्मबोध का इच्छुक है, संसार के सभी विषयों का रूप देखना चाहता है तो सद्गुरू के चरणों पर अपने अहं की भेंट अर्पित करे । ये कृपालु गुरू उस विशाल भवन के द्वार को खोल जिज्ञासु को कुञ्जी दे उसे नये प्रकाश से अवगत कराते हैं । जब तक ज्ञान का द्वार नहीं खुलता, जीव चक्कर लगाता रहता है और सम्पूर्ण विश्व के कार्य उसके लिये पहले से ही बने रहते है । ज्यों ही उसने ज्ञान-द्वार को खोला तो नवीन ज्योति से अमर

ज्योति को पा अमर हो जाता है । इसीलिये वेदान्त के प्रणेता ने ''ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं'' यह कहकर ज्ञान का और भी गौरव प्रकाशित किया है ।

(२०) भक्ति और विश्वास :-

ज्ञान और त्याग की अनुभूति के पश्चात् भी जीवन-यात्रा गतिशील ही रहती है किन्तु भक्ति और विश्वास के अभाव में ज्ञान और त्याग रूखी रोटी के समान है । उस रोटी पर यदि भक्ति और विश्वास रूपी घी लगा दिया जाये तो वह खाद्य चौगुना सुस्वादु हो जाता है । बुद्धि के भार को हलका करने के लिये भक्ति और विश्वास साधन है । इन दोनों की अनुपस्थिति में जीवन यात्रा के भार को वहन करने में बुद्धि थक जाती है । अतः अपने भार को श्री भगवान् के चरणों में अर्पित करना ही भक्ति की भावना है ।

(२१) सगुण भक्ति :-

सगुण भक्ति के लिये आराध्य देव की आवश्यकता है । उनके चरणों में अपना सम्पूर्ण बोझ, श्रद्धा-भक्ति सहित अर्पण कर, उनकी आराधना ही में आनन्द बोध करना सगुण भक्ति है ।

(२२) प्रसन्नता से प्रसन्न :-

एक भक्त ने जिज्ञासा की - ''भगवन, कौन सी वस्तु आपको प्रसन्न कर सकती है ?''

उत्तर था - ''भाई, मैं वस्तु विशेष से प्रसन्न होने वाला नहीं - प्रसन्नकर्ता की प्रसन्नता से ही प्रसन्न हूँ ।''

(२३) त्याग की झलक :-

एक अध्यापक ने पूछा - ''महाराज, त्याग क्या है ?'' रविवार का दिन था । अध्यापक के अवकाश का दिन था । बाबाजी ने कहा - ''देखो आज तुम वेतन पाते हुए भी छुट्टी का आनन्द ले रहे हो । परन्तु यदि तुम नौकरी छोड़ते हो तो छुट्टी रहने पर भी छुट्टी का आनन्द नहीं मिलेगा । इसी तरह त्याग, कर्म त्याग से नहीं समझना चाहिये ।

(२४) स्वप्न क्या है :-

एक श्रद्धालु भक्त ने पूछा - ''बाबाजी संसार यदि स्वप्न है तो फिर स्वप्न क्या है ?''

बाबाजी - ''स्वप्न तो संसार का फोटो है अर्थात् जो कुछ संसार में देखा, सुना, समझा, सोचा, उसकी मूर्ति स्वप्न में देखी जाती है ।''

(२५) ज्ञानी को भी सत्संग की आवश्यकता है :-

भला यह तो बताइये कि क्या बुह्मज्ञानी को भी सत्संग की आवश्यकता है ?

उत्तर था - ''सत्संग अवश्य ही आनन्दवर्द्धक है - एक ही परिवार के सदस्य यदि एक स्थान पर मिलन हेतु समवेत हों तो आनन्द का वर्षण करते हैं । सत्संगी पुरुषों का मिलन अपने परिवार के लोगों के मिलन से भी अधिक आकर्षक, मनोरंजक एवं प्रीतिदायक है ।''

(२६) गुण ग्रहण की विधि :-

गुण ग्रहण के लिये सूप (छाज) बनों, चलनी नहीं ।

(२७) चित्तवृत्ति निरोध :-

''भगवन्, चित्त की वृत्तियों का निरोध कैसे किया जाय ?''

''आकाश महामण्डल के उच्च स्तर पर चित्त को रमाओ । इधर-उधर की चंचलता स्वयं विलीन हो जायगी ।''

(२८) प्राकृतिक भजन :-

भजन से भगवान की प्राप्ति होती है यह कथन अनादि काल से प्रचलित एवं पसारित है किन्तु एक मार्ग अति सरल है - वह मार्ग है प्रकृति के भजन का अवलोकन । जिसने प्रकृति के भजन में सहयोग प्रदान किया कि उसके लिये सभी कार्य अति सुगम हो जाते हैं । अनादिकाल से प्रकृति भगवान को भज रही है किन्तु जीव अज्ञतावश उसकी ओर ध्यान नहीं देता वह तो केवल अपने पुरुषार्थ को ही सब कुछ समझता है । यही उसका भ्रम है । यदि वह प्रकृति के यज्ञ, भजन की ओर देखे तो वह समझ सकेगा कि जिसे वह अति कष्ट-साध्य समझ बैठा था वह तो अति सरल है । प्रकृति की इस गति-विधि का ज्ञान कोई पहुँचा हुआ ज्ञानी ही बता सकता है ।

(२९) भाव-अभाव :-

जिज्ञासु का प्रश्न था, ''भगवन् आप किसी वस्तु का अभाव अनुभव करते हैं ?''

''नहीं बाबा कैसा अभाव ? यहाँ तो अभाव का अभाव नहीं और भाव का भी अभाव नहीं । भाव-अभाव कैसा ?

(३०) सर्व खल्विदं ब्रह्म :-

राजस्थान में यह कथा प्रचलित है कि पत्र के अन्त में मिति लिखते हैं । इसका अर्थ है पत्र समाप्त यहीं होता है । उसी प्रकार वेदान्त के मूल तत्व को जानने के पश्चात् अर्थात् सब कुछ ब्रह्म ही है इससे अवगत होने के उपरान्त अन्य बातों की समाप्ति हो जाती है । इस तत्व को समझने के बाद और कुछ जानना अवशेष नहीं रहता ।

(३१) भीतर और बाहर :-

प्रश्न था - ''भीतर में क्या हैं और बाहर में क्या है ? ''

''भाई - भीतर में आनन्द ही आनन्द है और बाहर कुछ नहीं । अपना घर, अपना विचार, जिसे हम अपना कह सकते हैं वह तो भीतर है । अन्तर दृष्टिपात करो तो बाहरी खेल का रहस्य समझ में आये । चित्र का एक पहलू है यह । पूर्णता तो अन्तर में है । बाहर क्या है ? यह तो किसी अंग्रेज की कोठी पर लिखा out है । जब तक in का रूप नहीं देखा तो क्या लाभ ? बाहर ही बाहर चक्कर काटते रहो ।''

(३२) लोहा और जंग :-

किसी श्रद्धालु का अनुरोध था - ''बाबाजी, जैसे पारस लोहे को सोना बना देता है वैसे ही साधु को भी प्रत्येक सत्संगी को आत्मज्ञानी बना देना चाहिये ।''

बाबाजी ने कहा - ''अनुरोध तो तुम्हारा ठीक है, किन्तु यह भी जानना उचित है कि लोहा तो सोना हो जाता है, पर उस पर जो जंग लगा हो वह कैसे सोना हो सकता है ?''

(३ ३) कार्य शक्ति :-

प्रश्न था कर्म शक्ति का - उदाहरण दिया गया था भवन का । भवन को उच्च एवं विशाल बनाया जा सकता है - क्या कोई ऐसा भी पदार्थ है, जो स्वतः उच्चतम पद पा सकता है ?''

बाबाजी - ''क्यों नहीं, वृक्ष को, पहाड़ को देखो उन्हें कब कर्म-शक्ति की प्रेरणा की आवश्यकता होती है ? वे तो स्वतः ही महाविशाल रूप में दिखलाई देते हैं, वैसे ही सन्त भी उच्चपद स्वतःही प्राप्त करते हैं, किसी ने उनको ऊँचा नहीं बनाया है ।''

(३ ४) ये चक्षु :-

बाबाजी कहा करते -

''मेरी आँखें मेरी पहरेदार हैं । ये आँखें भीतर-बाहर दोनों को ही ध्यान से देखती है । भीतर किसी बुरे भाव को एवं बाहर किसी खराब आदमी को ये रहने नहीं देतीं । इनका निरीक्षण ऐसा कठोर है कि इनसे छिपकर मैं कुछ भी नहीं कर सकता ।''

(३ ५) भजन - विक्षेप असहनीय :-

कुछ लोग बाबाजी को यदाकदा पूछते -

''आप जन उपस्थिति को क्यों अवांछनीय समझते हैं ?

वे कहते -

''मैं भजन विक्षेप सहन नहीं कर सकता । एक अनुपल के लिये भी मैं ध्यानानन्द को छोड़ना नहीं चाहता । ये व्यर्थ के प्रश्न कर अपना पांडित्य दिखलाते हैं कि मैं अपना समय दे उसकी प्रशंसा करूँ - यह असहनीय है । इसीलिये मैं ऐसे लोगों को बैठने नहीं देता ।''

(३६) यथार्थ आनन्द :-

''आत्म प्रकाश की पूर्वावस्था का प्रसंग है ।'' बनासा बाई ने कहा - ''सांसारिक मोह, माया, घर की ममता का त्याग कर, भगवद्भक्ति में क्या सुख तथा आनन्द है ? कृपया समझावें ।''

बाबाजी ने प्रश्न का उत्तर रूपक में दिया -

''घर का, संसार का सुख छोटा - सा तालाब है और भगवान् की भक्ति तो समुद्र के समान है । इन दोनों के मध्य माया का पर्वत खड़ा है । तालाब का रहने वाला भला समुद्र - सुख को क्या जाने ? किन्तु श्रद्धालु भक्त माया के पर्वत को पार कर जब समुद्र में प्रवेश करता है, तो उसके आनन्द की सीमा नहीं रहती । कहाँ तालाब और कहाँ समुद्र ? इसीलिये लोग भक्ति के प्रेमी होते है ।''

(३७) मानव तन की सफलता :-

बनासा बाई का प्रश्न था -

''मानव तन की सफलता क्या है ?''

उत्तर था -

''जीव,भोग - वासना का त्याग कर भक्ति की कामना करे - यही नहीं, प्राप्त करने की पूर्ण चेष्टा करे । जब प्रभु कृपा से भक्ति मिल जाय, तो सम्पूर्ण कामना का त्याग कर पूर्ण आत्मानन्द में गोता लगावे - यही मानव तन की सफलता है । ''

(३८) सत्संग :-

पृथ्वी के गर्भ में बीज, मिट्टी में सना है । वर्षा होती है और बीज अंकुर का रूप धारण कर पृथ्वी के हृदय को विदीर्ण कर दृष्टिगोचर होता

है । अब वह पृथ्वी से ही अपना पोषण कर पल्लवित हो, फल प्रदान करता है । वे भावनायें, जो पहले बीज के रूप में थी, सत्संग पाकर भक्ति रूप में आयीं । पहले वे भावनायें सांसारिक कार्यों में रत थीं, अब उन्होंने सत्संग पाकर भक्ति का रूप पाया और समय पाकर स्व-साक्षात्कार की सहायक बनीं । जो पूर्व अवस्था में बाधक थीं, अब ये सहायक हुईं । आवश्यकता केवल सत्संग की है । भाव-भक्ति-रूप का दर्शन तभी सम्भव हो सकता है ।

(३ ९) ब्रह्म जीव और सद्‌गुरु :-

''भगवन्, ब्रह्म की स्थिति जड़ चेतन में किस प्रकार है ?'' प्रथम उत्तर था, ''वह है सर्वत्र, पर दीखता नहीं । उसकी स्थिति इस प्रकार है जैसे दूध में घी । दूध में घी दिखलाई नहीं देता, उसी प्रकार शरीर में ब्रह्म है, पर प्रकाश में नहीं आता । दूध को उबाल कर ठण्डा किया जाता है, तब दही बनाया जाता है, मथने पर मक्खन आ जाता है । दूध स्वयं मक्खन नहीं उत्पन्न कर सकता । इसके लिये मनुष्य परिश्रम कर उसे निकालते हैं । उसी प्रकार जीव में ही ब्रह्म निवास करता है, किन्तु सद्‌गुरू ही परिश्रम कर जड़ शरीर में चैतन्य ब्रह्म का भान कराता है । मक्खन निकालेने के पश्चात् फिर वह छाछ में नहीं मिलता । उसी प्रकार ब्रह्म का भान होने के पश्चात् जीव फिर गोरखधन्धे में नहीं फँसता । उसे सांसारिक कार्य ही क्यों न करना पड़े ।''

द्वितीय उत्तर था -

''मनुष्य मकान में रहता है, किन्तु वह मकान से पृथक ही है - मनुष्य मकान में मिल नहीं जाता । उसी प्रकार ब्रह्म भी शरीर में मिश्रित नहीं हो जाता । मकान ईंट, चूने से और मनुष्य, रक्त, मांस से निर्मित होते

हैं - उसी प्रकार ब्रह्म, चैतन्य स्वरूप, और शरीर, रक्त, मांस का है, यों भी वे दोनों पृथक् ही रहते हैं, मिलते नहीं । यही स्थिति ब्रह्मज्ञानी की है । वह शरीर पर आसक्त नहीं होता तथा शरीर और अपने रूप को अच्छी तरह पहचानता है ।''

(४०) भक्त और भगवान :-

भक्ति की व्याख्या बाबाजी इस प्रकार करते हैं - यदि दम्पत्ति को पुत्र न हुआ तो वे उस अभाव की पूर्ति दत्तक -पुत्र से करते हैं । माता-पिता दत्तक पुत्र को प्यार कर अपनी कामना का रूप उसमें देखते हैं और वह पुत्र भी उन्हें माता -पिता मानता हुआ सम्बोधन करता है तथा आदर -भाव रखता है । यों माता-पिता और पुत्र का भाव परस्पर सुखदायक हो जाता है । उसी प्रकार खुद भी भगवान का बन जाये, ऐसी ही भक्ति की भावना आनन्ददायक है । दोनों के भाव का मिलन सुख उत्पन्न करता है ।

(४१) बनासा बाई ने कहा :-

मान लीजिये हम भगवान के हो गये किन्तु मन सन्तोष के लिये कि भगवान हमारे हो गये, कौन इसका साक्षी है ?

बाबाजी ने कहा - ''अन्तःकरण ही इसका साक्षी है ।''

रूपक बाँधते हुए कहा -

''मेले में पिता-पुत्र जाते हैं किन्तु पुत्र अपनी रखवाली के लिये पिता को कुछ नहीं कहता, किन्तु पिता ही अपनी इच्छा से पुत्र को चेतावनी देता है और सतर्क रहने के लिये कहता है । उसी प्रकार भगवान भी भक्त को माया के वशीभूत होते देखकर चेतावनी देता है - अन्तःकरण की आवाज़ के

रूप में । जो भक्त अन्तःकरण की उस पुकार को सुनता है उसे समझना चाहिये कि भगवान ने उसे अपना लिया है । यह आवाज़ ही साक्षी है ।''

(४२) ममत्व का त्याग ही श्रेष्ठ त्याग है:-

बनासा बाई का प्रश्न था -

''बाबाजी, त्याग का क्या रूप है और किस वस्तु का त्याग आप उत्तम समझते हैं ?''

बाबाजी ने कहा -

''ममता का त्याग उत्तम है । जिस प्रकार आँखों के प्रति ममत्व उनके विनष्ट होने पर दुःखदायक होता है, किन्तु आँखों को यदि शरीर का अंग विशेष मान लें, तो उस दुःख से छुटकारा मिल जाता है । उसी प्रकार सम्पूर्ण वस्तुओं की ममता त्याग देने से सम्पर्क में रहते हुए भी दुःख नहीं होता । इसीलिये ममता का त्याग ही उत्तम त्याग है ।''

(४३) महात्मा की शक्ति तपस्या सिद्ध है या स्वतः सिद्ध ?:-

''भीतर बाहर एक समान'' की अवस्था ही महात्मा पद का परिचायक है । जब यह स्थिति स्वतः होती है तो सम्पूर्ण सिद्धियाँ और निधियाँ करबद्ध हो आज्ञा पालन में तत्पर रहती हैं । अब यह उस महात्मा का विवेचन है कि वह उनसे सांसारिक कार्य ले या पारमार्थिक । बात स्पष्ट है कि (राजत्व प्राप्ति चिह्न) राजतिलक हो जाने से, सम्पूर्ण राज्य शक्ति उस मनुष्य के सम्मुख नतमस्तक हो जाती है और उसकी इच्छा ही उनका संचालन करती है । हाँ, सुविज्ञ राजा अपनी शक्ति का व्यर्थ व्यवहार नहीं करता । राज्य विपत्ति - ग्रस्त होने पर ही शक्ति का प्रयोग करता है या राज्य-वृद्धि के लिये । उसी प्रकार महात्माजन भी किसी की विपत्ति

निवारणार्थ या किसी के हृदय में भक्ति - भाव का उदय करने के लिये ही शक्ति का उपयोग करते हैं अन्यथा नहीं ।

(४४) भक्त, अभक्त तथा दुराचारी की पहिचान :-

एक श्रद्धालु ने पूछा - ''बाबाजी, भक्त के आन्तरिक पहिचान तो जो भक्त होते हैं, वे ही करते हैं - क्या कोई शारीरिक चिन्ह भी है, जो भक्त, अभक्त और दुराचारी का भेद बतावे?''

बाबाजी ने कहा - ''अन्तः करण का साक्षी तो मनुष्य का (चेहरा) मुख ही है - तुम्हें इसका भेद देखना है तो एक दुराचारी तथा एक भक्त को समीप खड़ा करो - दुराचारी के चेहरे पर कालिमा और भक्त के चेहरे पर भव्यता के दर्शन होंगे - तुम जान जाओगे कि क्या अन्तर है ।''

(४५) चित्तवृत्ति निरोध :-

बाबाजी का कथन था कि मनुष्य अपने मन पर इतना अधिक शासन न करे कि वह शासन में रहने से इन्कार कर बैठे । मन को एक बालक समझ कर मुँहमाँगी वस्तु न दें । जो वस्तु हानिकारक न हो, वे ही देने की चेष्टा करें । हानिकारक वस्तुओं की हानि दिखलाकर उसे विरत करने की चेष्टा करें - शासन से नहीं ।

(४६) ब्रह्मचर्य की आवश्यकता :-

एक श्रद्धालु ने पूछा - ''बाबाजी, शरीर के सब व्यवहारों का त्याग आप उचित नहीं मानते अर्थात् खाने -पीने में, वार्तालाप में, किसी विशेष नियम का पालन आप ठीक नहीं समझते । पर जैसे अन्य व्यवहार हैं - ब्रह्मचर्य भी तो एक व्यवहार ही है, अतः महात्माजन इसके पालन का

क्यों आदेश करते हैं ? ब्रह्मचर्य की क्या आवश्यकता है ?'' बाबाजी ने कहा - ''भजनेच्छु मनुष्य या आत्मज्ञानी को अपने आनन्द वृद्धि के लिये, मानसिक सन्तोष के लिये, परमानन्द के शिखर पर पहुँचने के लिये ब्रह्मचर्य को ही प्रथम सोपान के रूप में अपनाना श्रेष्ठ है । यदि वह प्रथम सीढ़ी को दृढ़ता से पहचान लेगा तो उसके लिये गन्तव्य स्थान दूर नहीं ।''

(४७) स्व-अनुभवजन्य स्थिति का स्पष्टीकरण :-

बाबाजी का स्वयं का अनुभव था, उसे व्यक्त करते हुए बोले - ''मैं पूर्ण ब्रह्मचारी हूँ, मुझे कामना से कोई सम्पर्क नहीं, फिर भी कल्पित वासनाएँ घेरती हैं - मैं उनसे खेलता हूँ और वे कल्पनाएँ चली जाती हैं । वे बाद की स्थिति में कोई भी व्यवधान पहुँचाये बिना केवल मन के भीतर चक्कर काट कर गायब हो जाती हैं और मुझे विजेता का गर्व प्रदान कर जाती हैं । यह पूर्ण विजय का चिन्ह है ।''

(४८) स्त्री का स्थान :-

एक भक्त ने पूछा - ''बाबाजी, आप तो स्त्री की समीपता से न तो भय ही करते हैं और न घृणा । अन्य साधु तो इसे दूर से ही प्रणाम करते हैं ।

बाबाजी ने कहा - ''भाई, स्त्री के गर्भ से उत्पन्न हुआ, उसका स्तन पान किया, शिशु अवस्था में उसने मुझे सुलाया, खिलाया, पिलाया । मैनें उसकी महिमा जान ली है । वे साधु जो स्त्रियों से दूर रहते हैं, उनसे मैं भिन्न हूँ । मेरे लिये स्त्री मात्र माता है । मातृ-भाव से भिन्न मेरे हृदय में उसके लिये कोई भी भाव नहीं, मातृ - जाति मेरे लिये हेय नहीं । मैं उन्ही के शरीर से उत्पन्न हो कर उन्हीं से घृणा करूँ, यह मेरी समझ के बाहर की

बात है । जो महात्मा इनसे घृणा करते हैं, वे मातृ-महिमा से अनजान हैं, वे कामिनी के रूप में देखते हैं, इसीलिये दूर भागते हैं । यह काया भी तो स्त्री है । इस काया रूपीस्त्री से जा अलग रह सके, वही मर्द है और तो सब बच्चे है ।''

(४९) वे क्या थे ?

संसार के प्रति बाबाजी को घृणा न थी और न था अनुराग । सांसारिक भावनाओं के प्रति वे उदासीन ही रहा करते थे । मनुष्य की कीमत उसके भक्ति-भाव से किया करते । वे कहा करते - ''मैं तो भक्ति-भाव का इच्छुक हूँ । मुझे मलिनता की आवश्यकता नहीं, निर्मलता का ही मैं प्रशंसक हूँ । निर्मल मन से मेरे पास आवे, वही मुझे प्रिय है, कपटी मेरे लिये घृणा का पात्र है ।'' उनमें जन-कल्याण की भावना भरपूर थी । वे कहा करते - ''मैं तो पारस हूँ । इच्छुक आयें और प्राप्त करें । मैं कल्प-वृक्ष हूँ, जिसे अभिलाषा हो, मेरे पास आवे ।''

भक्ति की भावना लेकर आने वाले की मनोकामना की पूर्ति भी तत्परता तथा आनन्द से करते थे ।

(५०) मान बड़प्पन का त्याग :-

बाबाजी महात्मा के लिये मान बड़प्पन का त्याग उचित समझते थे । वे कहा करते - ''सर्व कामना का त्याग भी सरल कहा जा सकता है किन्तु इस अभिमान और प्रशंसा से मुक्त होना अति दुष्कर है । उच्चपद की अभिलाषा की पूर्ति के लिये प्रयत्नशील बनना पड़ता है । प्राप्त हो जाये तो कुछ अभिमान भी आसन जमा लेता है । यह भजन में बाधक सिद्ध होता है

अतः इस अभिमान और प्रशंसा को तो दूर से ही प्रणाम करना उचित है । '' बाबाजी प्रशंसा को पास भी न फटकने देते ।

(५१) साधु वेश :-

बाबाजी साधु वेश के लिये अनुराग न दिखाते थे । वे कहा करते - ''साधु वेश तो भारतवर्ष में सुविधा से भोजन प्राप्त करने का प्रतीक है - ज्ञान का प्रतीक नहीं । मैं तो पहले ही साधु हो गया था पीछे गुरू मिले - नहीं तो मैं इस वेश में कोई सार्थकता नहीं देखता । मनुष्य को भक्त और ज्ञानी का वेश धारण करना चाहिये । यह ऊपरी वेश किस काम का ।''

(५२) ज्ञान, भक्ति और वैराग्य :-

ज्ञान मनुष्य को दिव्यचक्षु देता है और प्रकाशमय बनाता है । चैतन्य के प्रकाश में प्राणी ज्ञान नेत्रों से आन्तरिक तथा वाह्य स्थिति का अवलोकन करता है । सत्य और असत्य का निर्णय कर सत्य की ओर अग्रसर होता है । ज्ञान एक यन्त्र है जो अनुवीक्षण तथा दूरवीक्षण का काम करता है । भोला मनुष्य जब मोहान्ध हो पथ भ्रष्ट हो जाता है तो ज्ञान ही उसका पथ प्रदर्शक होता है - यह बनासा बाई का कथन है ।

भक्ति-ज्ञान से मुक्ति होती है यह मान लिया । मुक्ति ही जीवन की सार्थकता की परिचायिक है इसे भी स्वीकार कर लिया फिर भी प्रारम्भिक अवस्था में चित्त की चंचलता को धैर्य में बदलने के लिये, जीवन में मधुरता लाने के लिये, शान्ति के दर्शन के लिये भक्ति पथ की आवश्यकता है । भक्ति क्या है ? एक चुम्बक है जिससे आकृष्ट होकर निर्मलता, शान्ति व

स्निग्धता अपने आप मानव तन को भूषित करती है - मन हर्षित, आनन्दी बन जाता है ।

वैराग्य - त्याग से तृष्णा, कामना को शान्त कर, सांसारिक, आन्तरिक व्यवहारों को मिटाकर, पूर्ण सन्तोष को प्राप्त कर, परम तृप्ति जनित अखण्ड आनन्द का उपभोग करना ही वैराग्य का लक्ष्य है । वैराग्य क्या है ? एक मशहरी है जो मनुष्य को बाहरी तथा भीतरी मच्छरों से बचाती है । वैराग्य क्या है ? एक चट्टान है जिसके नीचे तृष्णा दब कर सन्तोष की धारा प्रवाहित करती है ।

(५३) सच्चा सौन्दर्य :-

बाबाजी का कथन था - ''मनुष्य की शोभा सुन्दर रूप, आभूषण और सुन्दर वस्त्रों से होती है । एक का अभाव न्यूनता का कारण बन जाता है किन्तु हैं वे ये -ज्ञान ही आभूषण हैं, त्याग ही सुन्दर वस्त्र हैं, भक्ति ही सौन्दर्य है, जहाँ तीनों मिल जाते हैं, वहाँ प्रत्यक्ष दर्शन ही प्रमाण है - वाणी मौन हो जाती है ।''

(५४) पहिचान :-

बाबाजी बड़प्पन की पहिचान बाहरी ठाठ-बाट से न कर, अन्तरवृत्ति की शुद्धता व मधुरता से करते । वे मनुष्य को धन सम्पत्ति से बड़ा न मानते । वे रूपक बाँधते हुए कहते - ''देखो भाई, यह बड़ा मतीरा बड़ा तो बहुत है पर इसमें मधुरता नहीं और यह छोटी-सी मतीरी छोटी होने पर भी कितनी मीठी है । बाहर बड़ा होना बड़प्पन नहीं रखता, आन्तरिक माधुर्य ही बड़प्पन है ।''

(५५) समानता :-

बाबाजी के दरबार में अमीर, गरीब, हिन्दू मुसलमान समान आदर पाते थे । जाति और धर्म के प्रति वहाँ कोई सम्मान विशेष न था । एक मुसलमान जो पहले धनी था, दरिद्र अवस्था में इनके समीप उपस्थित हुआ और बोला - ''महाराज ! आज मेरा समाज में कोई भी सम्मान नहीं । '' बाबाजी ने उसे आश्वासन देते हुए कहा - ''भाई मेरे लिये तो तुम जैसे पहले थे वैसे ही आज भी हो । ईश्वर के लिये सभी समान है ।''

(५६) सम्बन्ध की सार्थकता :-

बनासा बाई का काथन है कि नाता तो भक्ति, भाव का ही माना जाय । भजन करने वाले के लिये यही उत्तम है । अन्य जो भी नाते हैं वे हक की महत्ता से भार रूप हो जाते हैं । भक्ति, भाव के सम्बन्ध में भार नहीं - नम्रता का आधिक्य होने से भजन में व्याघात नहीं उत्पन्न होता । और जो हक के नाते हैं वे अपने भारीपन से दबाते हैं, जिसमें संकोच का अनुभव होता है, इसीलिये सम्बन्धों का त्याग किया जाता है ।

(५७) जन सम्पर्क से दूर क्यों ?

बनासा बाई का कथन है कि योगीजन जन सम्पर्क से दूर रहना चाहते हैं क्योंकि इससे वे दृष्टा दुःख से बच जाते हैं । जब तक कोई भी भाव प्रत्यक्ष न हो, तब तक अन्तर में हलचल नहीं होती । अखण्ड शान्ति बनी रहती है ।

(५८) ब्रह्मज्ञ का प्राकृतिक सम्बन्ध :-

बनासा बाई का कथन है कि स्व - साक्षात्कार को ब्रह्मज्ञान कहते हैं । आत्म-दर्शन ही उसका रूप है । जहाँ आत्म-दर्शन है वहाँ भाव विशेष

का प्रवेश नहीं । पर यह स्थूल शरीर ही भावों का प्रणेता तथा भोक्ता है । इसका रूपक समय है । दिन, रात, जाड़ा, गर्मी, वर्षा, साल, महीना, दिन इसके प्रकार है । समय स्वयं हरदम एक सा ही रहता है । जैसे हम कहते हैं दिन का समय हैं, रात का समय है, प्रभात का समय है । समय दिन से, रात से, प्रभात से अलग है और नहीं भी । यही अवस्था ब्रह्मज्ञानी की है । शरद, ग्रीष्म की ऋतु अपना प्रभाव समय पर नहीं दिखा सकती । यह प्रभाव तो चैतन्य, सृष्टि पर ही पड़ता है । समय इससे भिन्न न होते हुए भी भिन्न ही रह जाता है ।

(५९) आनन्द में विक्षेप क्यों ? -

साधारणतया सत्संग से, सदगुरू की कृपा से, बुह्मज्ञान प्राप्त होने पर भी, गृहस्थ जीवन में रहते हुए मनुष्य उसका (ब्रह्मज्ञान के ज्ञान का) आनन्द कम ले सकते हैं, क्योंकि उनकी संकीर्णता जाती नहीं । वे सोचते हैं कि तुम कमजोर हो इसीलिये गृहस्थी का बन्धन काटकर मुक्त जीवन का आनन्द नहीं ले सकते । किन्तु बनासा बाई का कथन है कि ऐसे ब्रह्मज्ञानी को संकीर्णता से पिण्ड छुड़ाकर उदार वृत्ति का अवलम्बन करना चाहिये । इन्हें व्यवहार के छोटे-छोटे झंझटों से दुःखी नहीं होना चाहिये । मान लीजिये अगर राजा यह चिन्ता करना शुरू करे कि राज्य संचालन में तो बहुत झंझट है तो वह कदापि राज्य-सुख का आनन्द न ले सकेगा । वह शक्ति प्रधान मनुष्यों पर विश्वास पूर्वक राज्य का संचालन सुपुर्द कर स्वयं निरीक्षक रहकर आनन्द करता है । इसी तरह ब्रह्मज्ञानी भी अपनी वृत्तियों का भार सौंपकर आनन्द से रहे और निश्चिन्त हो ब्रह्मानन्द में गोता लगाये ।

(६०) ये छिंटे :-

जो ब्रह्मज्ञानी व्यवहारिकता को कायम रखते हुए भी हलचल से बचने का मार्ग खोजता उसकी चेष्टा तो उस नाविक की तरह है जो जल में नाव चलाते हुए भी जल के छीटों से बचने की चेष्टा करे । अरे भाई ! जल में चलावोगे तो छींटो से क्यों घबड़ाते हो ? छींटो से कुछ बिगड़ता थोड़े ही है । तुमको नाव मिल गई तो तुम डूब तो सकते नहीं - छींटे तो लगेंगे ही ।

(६१) लक्ष्य तक गति :-

मान लो संसार एक समुद्र है, ब्रह्मज्ञान एक नाव है, जीव एक नाविक है, आन्तरिक निरीक्षण नाव की गति है और परमानन्द ही वह स्थान है जहाँ नाविक को पहुँचना है । अगर नाविक सावधानी से लहरों से बचकर नाव की गति पर ही नज़र रखे, वह तरंगों के नृत्य में अपने को भुला न दे तो शीघ्र ही यथास्थान पहुँच जाता है । जहाँ लहरों का भयावना तथा मोहक रूप देखने में लीन हुआ कि नाव लहरों में पड़, डगमगाने लगती है । उसको स्थिर करने में यथेष्ट परिश्रम करना पड़ता है और कभी-कभी तो वे लहरें नौका को ही उलट देने में समर्थ होती है । अतः बढ़े चलो-बढ़े चलो लहरों की ओर न देखो, बढ़े चलो ।

(६२) मानसिक रोग की दवा :-

मानसिक रोग की दवा आत्मज्ञान है । आन्तरिक राग, द्वेष तथा तृष्ण का अन्त आत्म ज्ञान के द्वारा ही होता है । ऐसे लोग जो आत्म ज्ञान का गुण नहीं जानते और साधनों से ही शान्ति प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं वे उस मन्दाग्नि के रोगी की तरह हैं जो तनिक भी अधिक भोजन पचा नहीं

सकता । वह भोज्य पदार्थों के भोगने की सामर्थ्य नहीं रखता क्योंकि रोग के उपयुक्त दवा न लेने से स्वस्थ होना दुष्कर होता है ।

(६ ३) धोखा क्यों ? :-

भजन करने की इच्छा को, सांसारिक वस्तुओं के लिये, दमन उचित नहीं । पुत्र और पौत्र की अवस्था प्राप्त करने पर भजन करेंगे आदि कल्पनायें एवं भावनायें सफल होंगी यह कोई निश्चित सिद्धान्त नहीं । फिर इस प्रकार की वस्तुओं के लिये भजन को भविष्य के लिये रख छोड़ना उचित नहीं । भजन निजी वस्तु है । वह संसार की वस्तुओं के मोल में बिकने वाली वस्तु नहीं । जिसकी भजन की अभिलाषा हो उसे प्रत्येक अवस्था में पूर्ण करना ही श्रेष्ठ है । कल्पित कामनाओं के मोह में यथार्थ कामना का परित्याग करना मूर्खता के अतिरिक्त कुछ नहीं है ।

(६ ४) तृष्णा का अन्त क्यों ? :-

इस तृष्णा का तो अन्त ही आवश्यक है । और भी देखो न इसके अन्त बिना सन्तोष कहाँ ? यह तृष्णा सांसारिक वस्तुओं में ही भ्रम उत्पन्न करती हो ऐसा नहीं है, यह तो भजन करने में भी भ्रमित करती है । यह पूर्ण वस्तु की प्राप्ति के उपरान्त भी निश्चिन्त नहीं । अधिक से अधिक की रट लगी रहती है । जो कुछ प्राप्त हुआ उसे शान्तिपूर्वक उपयोग नहीं करने देती तथा अधिक की अभिलाषा करती है । अगर शान्ति से सम्बन्ध स्थापित करो तो इससे नाता तोड़ो । फिर तो चैन की वंशी बजेगी । स्वयं जान सकोगे कि सन्तोष में कितना आनन्द है और तृष्णा में कितना चक्कर ।

(६५) सन्तोष का प्रभाव :-

व्यवहार बुद्धि के सब कार्य होते हुए भी उसके प्रति तृष्णा का अन्त, समीक्षा, बुद्धि से उन कार्यों का निरीक्षण करने से हो जाता है क्योंकि यदि तुम सम्पूर्ण त्यागी न बन सको तो आंशिक त्यागी बन जाओ, तृष्णा का वेग क्रमशः कम हो जायेगा और ज्यों - ज्यों सन्तोष का प्रभाव मन पर पड़ेगा त्यों - त्यों तृष्णा मिटती चली जायेगी ।

(६६) सचेत बन :-

बाबाजी कहते हैं ''अरे नर चेत, तू चेत, जब तक तू नहीं गफलत छोड़ता, कठिनाइयाँ अपना भयानक रूप दिखायेंगी, किन्तु जहाँ चैतन्यता की भावना आई कि ''मंज़िले मकसूद'' ही पहुँच जायेगा ।

(६७) एकान्त जीवन :-

बाबाजी कहते हैं कि शुद्धतापूर्वक एकान्त विचार करने से कल्पित दुःखों से मुक्त हो सकोगे । अधिकांश दुःख तो कल्पित हैं वास्तविक तो बहुत कम हैं । इसलिये एकान्त विचार परमावश्यक है ।

(६८) धन का स्थान :-

धन के लिये स्वधर्म का परित्याग अनुचित एवं अवांछनीय है । प्राप्त में ही सन्तोष सुखकर है । असन्तोषी जीव तो जीवन नष्ट करते हैं । जो मिला उनके लिये सृष्टिकर्ता को धन्यवाद दे स्वकर्म में संलग्न होना कर्तव्य पालन है । धन की दौड़ में पच-पच कर मरना जीवन को निस्सार बनाता है यह बनासा बाई का कथन है ।

(६९) तैराक :-

बाबाजी कहा करते कि मैं एक तैराक हूँ । मैं सुख, दुःख, भय, अभय आदि भावों से भरे हुए मन के सरोवर में तैरता हूँ । मैं इन भावों में डूबा हुआ नहीं रह सकता क्योंकि मुझे गुरूदेव ने तैरना सिखला दिया है ।

(७०) आत्मज्ञानी की विशेषता :-

भरे हुए सरोवर में तैरनेवाला जैसे सत्पूर्ण अंगों द्वारा यही चेष्टा करता है कि जल में डूबने की नौबत न आये, वैसे ही आत्मज्ञानी भी मानसिक भावों पर तैरता है कि ये भाव उसे परास्त न कर दें ।

(७१) आत्मज्ञान की परिभाषा :-

आत्मज्ञान किसे प्राप्त होता है तथा किस प्रकार होता है उसके स्पष्टीकरण के लिये तैराक का उदाहरण दिया जा सकता है । तैराक अपने सब अंग - प्रत्यंगों से तैरना सीख लेने पर निर्भय होकर तैरता है अथवा डूबने की आशंका से मुक्त हो जाता है । किस प्रकार होता है इसका प्रमाण है कि उसे (तैराक को) तैरने में क्या छोड़ना पड़ता है और क्या ग्रहण करना पड़ता है इन सब झंझटों को छोड़ तैरना सीख लेना ही उचित है । इसी प्रकार संसार रूपी समुद्र में तैरना सीख कर ही अपने आपको निर्भय बना लेना ही आत्मज्ञान है ।